
किरण-
वीणा

सुमित्रानंदन पंत



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली ६ पटना ६




किरण-वीणा



प्रथम संस्करण १९६७

मूल्य ८.००

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली ६

मुद्रक
नवीन प्रेस,
दिल्ली ६

स्नेही बंधु
स्व० पुराणी जी की
स्मृति को—
सस्नेह

विज्ञापन

'किरण वीणा' में मेरी नवीनतम रचनाएँ संगृहीत हैं जिनमें अधिकांश सन् १९६६ में लिखी गई हैं। इन रचनाओं के विषयों में पर्याप्त वैचित्र्य है, जिसका कि पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। "वाणी" की 'आत्मिका' की तरह ही इस संग्रह के अंत में 'पुरुषोत्तम राम' शीर्षक कविता में मेरी आत्म-कथा की भी रूपरेखा आ गई है। 'आत्मिका' की कथावस्तु मुख्यतः मन तथा जीवन के धरातल की है, प्रस्तुत रचना इनके अतिरिक्त मेरी चेतनात्मक अनुभूतियों से भी सम्बन्ध रखती है।

अपनी अस्वस्थता के बाद पाठकों के सामने यह संग्रह प्रस्तुत करने में मुझे प्रसन्नता होती है।

—सुमित्रानंदन पंत

१८/बी० ७, क० जी० मार्ग
इलाहाबाद
१ दिसम्बर, १९६६

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	७	आराहों	आरोहों
३८	३	सतने	सनने
४३	१२	किसको	किसकी
७०	१०	—नोट	-नोट
८३	१६	दभ ?	दभ
१११	१३	त्रन से	तन से
११५	५	माह—पगली	माह-पगली
१२४	३	सन्देग	संदेग
१७०	११	का	का
१८६	१	ऐमा	ऐमी
१८६	४	घेरा	घेरे
२१७	२२	हत्या है	हत्या !
२१८	१४	जन	गण
२२०	२०	पू—	पूय-
२२०	२२	रौन्नी	रौन्नो

क्रम

मैं हूँ केवल
एक तृण किरण,
जिसको मानव के पग धर
चलना धरती पर!

मेरे नीचे
पड़ा अडिग पर्वताकार शव—
पथराया केंचुल अतीत का!—
मुझको क्या उसमें नव जीवन डाल
जगाना है जड़ शव को?

नहीं,—मुझे उर्वर भू रज से
नया मनुज गढ़ना अब,—
उसमें फूँक
स्वर्ग की साँस
अगोचर!

मृत को पुनः जिलाना
घातक होगा दारुण,—

नया मनुज
किरणों के कर से
पाले नया हृदय-वातायन!—
मैं हूँ केवल एक तृण किरण!

किरण वीणा

किरणों की वीणा में—
सूर्य चन्द्र तूँबे दिग उज्वल—
स्मेरमुखी ऊषाएँ हँस हँस
गाती रहतीं प्रतिपल ।

यह मेरी रस मानस तन्त्री,
साँसों के तारों में नीरव
आत्मा का संगीत भुवन अब
जन्म ले रहा अभिनव ।

अंतर्मुख सौरभ में बस कर
बहता चेतस का माणिक जल,
खिलते अद्भुत गीतों के पद
श्वेत पीत सरसिज दल ।

स्वर्ग धेनु पूछ उठा कर
रँभा रही सुन मम मौन स्वर,
अत मल्लिका स्वर्गंगा के
तीर विचर रस कातर !

किस पावक का लोक अगोचर
उतर रहा प्राणो के भीतर—
नया कल्प अब उदित हो रहा
तम का मुख कर भास्वर !

कौन देव करते आवाहन
चन्द्र चेतना की अजलि भर—
दुग्ध धार सी ज्योति बरसती
नव छदो मे झर-झर !
—किरणो की वीणा मे !

तुम कौन ?

चन्द्र किरण किरीटिनी,
तुम कौन आती
मौन स्वप्न सजग चरण धर ?
हृदय के एकात शात
स्फटिक क्षणा को
स्वग के सगीत से भर !

मचल उठता ज्वार
शोभा सिन्धु मे जग,
नाचता आनद पागल
भाव-लहरो पर
थिरकते प्रेरणा पग !
इद्र धनुष मरीचि दीपित
चेतना का मम मे
खुलता गवाक्ष
रहस्य भास्वर !

अमर वीणाएँ निरतर
गूज उठती, गूज उठती
स्वप्न नि स्वर—
तारका का हो गुला
अनिमेष अतर !

मर्त्य मे उठ स्वर्ग तक
प्रासाद जीवन का अनश्वर
रूप के भरता दिगतर !

चद्र किरण किरीटिनी,
तुम कौन आती
मौन स्वप्न-सुघर चरण धर !

नवोन्मेष

फिर किशोर कनारे स्वप्नो का
कचनारी सौदय बरसता—
दिङ् मुकुलित कर अतर!

किस वसत के सूय स्पश से
दहक उठा फिर प्राणो का वन,
अनिर्वाप्य इच्छा का पावक
सोया था आत्मा मे गोपन,—
उमड सिधु-आनद लोटता
जीवन के चरणो पर!

कौन शक्ति यह मेरे भीतर
शखो की सी नादित पवत
लोक जागरण की वेला मे
घोषित करती जीवन-अभिमत ?

लो, इद्रिय माणिक मदिर का
खुला स्वग तक स्फाटिक तोरण,
आते जाते देवदूत शत
अतर मे भर हीरक स्पदन!

प्राणों के मरकत प्रांगण पर
विचरण करता शाश्वत निःस्वर—
जन्म ले रहा नया मनुज अब
तरुण अरुण,—भू निशि दीपित कर!

फिर किशोर क्वारे पावक का
कचनारी ऐश्वर्य बरसना
ज्वाला से भर अंतर!

नवोन्मेष

फिर किशोर क्वारे स्वप्नो का
कचनारी सौदय बरसता—
दिङ् मुकुलित कर अतर !

किस वसत के सूय स्पश से
दहक उठा फिर प्राणो का वन,
अनिर्वाप्य इच्छा का पावक
सोया था आत्मा मे गोपन,—
उमड सिधु आनद लोटता
जीवन के चरणा पर !

कौन शक्ति यह मेरे भीतर
शखा की सी नादित पवत
लोक जागरण की वेला मे
घोषित करती जीवन अभिमत ?

लो, इद्रिय माणिक मदिर का
खुला स्वग तक स्फाटिक तारण,
आते-जाते देवदूत गत
अतर म भर हीरक स्पदन !

प्राणों के मरकत प्रांगण पर
विचरण करता शाश्वत निःस्वर—
जन्म ले रहा नया मनुज अब
तरुण अरुण,—भू-निशि दीपित कर!

फिर किशोर क्वारे पावक का
कचनारी ऐश्वर्य बरसता
ज्वाला से भर अंतर!

सूर्योदय

फालसई तूली से किरणें
नव शोभा की स्वरलिपि लिखती
जीवन के आँगन पर ।

भू-यौवन के पावक घट सा
उठता सूय शूय दिशि उर भर,
उतर रहे चपक जघनो से
नव प्रकाश के स्वर्णिम निपर ।
यह अनत यौवना प्रकृति
भव-निशि विषाद लेती हर ।

सरिता वीणाओ सी गाती
रजत वह्नि मे लहरें हाती,
चपल, मुखर, भगुर-गति जल मे
सोया नील शाति सा नि स्वर ।

यह विराट् सुख का रगस्थल
शाश्वत सुख पर क्षण का अचल,
सृष्टि नि य नव स्वर-सगति मे
बढ़ती सुदर से सुदरतर ।

खोलो हे मन का तृण-पिंजर
स्वच सीमा से निकलो बाहर,
भू रज भुजग, विहग बनो उठ,
पंख शून्य में फैला भाम्वर !

फाल्गई तूली से किरणें
श्री शोभा की स्वरलिपि रचतीं
प्राणों के प्रागण पर !

देव श्रेणी

नयी देव श्रेणी को
जन्म दे गया, लो, मैं
नव मूल्यों मे नए प्राण भर,
रश्मि किरीटी हिम शिखरों सी
उठती जो चिर जीवन सागर!

कर्दम मे डूबे
युग के आकंठ मनुज को
नव विकास पथ पर स्थापित कर,
मिटा गया इतिहास तमस
चैतन्य लोक दिखला
दिग् भास्वर!

एक सूर्य अब अस्त हुआ
मानव आत्मा मे—
बिखर रहा चैतसिक धूम
बन घन तारांबर,
अरुणोदय होने को उर मे
एक ज्योति झुक रही
क्षितिज से
मानव भू पर!

किसको छूने
हाथ बढाता
बौना व्यक्ति
उठा भू से पग ?
चद्र खिलौना व्यर्थ—
सदय नव सूर्य स्वय जब
उदय हो रहा उर के भीतर !

अत समता ही की क्षमता
ला पाएगी
बाह्य लोक समता
बहु भेद भरी जन भू पर,
नयी एकता मे बँधने को
अब भू मानव
अतिक्रम कर युग युग के अतर !

नयी देव श्रेणी को
जन्म दिया तप मैंने
नव मूल्यो मे
उर-स्पदन भर !
देव मनुज पशु
नया मनुज बन जीएँगे जब,
तब होगा चरितार्थ
धरा पर जीवन ईश्वर !

देव श्रेणी

नयी देव श्रेणी को
जन्म दे गया, लो, मैं
नव मूल्यों में नए प्राण भर,
रश्मि किरीटी हिम शिखरों सी
उठती जो तिर जीवन सागर !

कर्दम में डूबे
युग के आकंठ मनुज को
नव विकास पथ पर स्थापित कर,
मिटा गया इतिहास तमस
चैतन्य लोक दिखला
दिग् भास्वर !

एक सूर्य अब अस्त हुआ
मानव आत्मा में—
बिखर रहा चतसिक धूम
बन घन तारावर,
अरुणोदय होने को उर में
एक ज्योति झुक रही
क्षितिज से
मानव भू पर !

किसको छूने
हाथ बढाता
बौना व्यक्ति
उठा भू से पग ?
चद्र खिलौना व्यर्थ—
सदय नव सूय स्वय जब
उदय हो रहा उर के भीतर !

अत समता ही की क्षमता
ला पाएगी
बाह्य लोक समता
बहु भेद भरी जन भू पर,
नयी एकता मे बँधने को
अब भू मानव
अतिक्रम कर युग-युग के अतर !

नयी देव श्रेणी को
जन्म दिया तप मैंने
नव मूल्यो म
उर-स्पदन भर !
देव मनुज पशु
नया मनुज बन जोएँगे जब,
तब होगा चरितार्थ
धरा पर जीवन ईश्वर !

प्रेरणा

कौन अनछुआ तार बज उठा
  अनजाने इस बार,
फूट पडी झकार,
  हृदय मे स्वण शुभ्र झकार !

भाव शिरा यह सूक्ष्म अगोचर,
या चेतना किरण-क्षण नि स्वर,
तन्मय होता अतरग
  तिर शोभा पारावार !

खुलते क्षितिज
  क्षितिज पर भास्वर,
पार शिखर स्वर,
  पार दिगतर,
आत्मा के हीरक प्रकाश से
  होता साक्षात्कार !

देह प्राण मन के जड बधन
स्वत खुल गए सुन माणिक-स्वन,
जगत् नही, मैं नही,
प्रेम-लय मे
  ईश्वर साकार !

सवेदन

वह शुभ्र स्वर्ण की सूक्ष्म डोर
जिस पर चढता मेरा अतर
उस रजत अनिल के अबर मे—
रस गीत जहाँ पडते झर-झर !

द्राक्षा वैसी न मधुर मादक,
मधुमय क्या वैसे सुधा-अधर ?
प्राणो मे वह झकार नही
उन गीतो मे जो मोहित स्वर !

वह कौन लता, किस अबर मे ?
चिर-मूल सभी के उर भीतर,
सौदर्य प्रवालो मे पुलकित—
नित सुरभि हृदय मे जाती भर !

वह कौन मेघ, रस शुभ्र हरित,
आनद बरसता रिमझिम झिम,
रोमाचो मे हँस सुप्त हृदय
स्वप्नो मे जग उठता स्वर्णिम !

विस्मृत हो जाता देह-भाव,
विस्मृत अस्मिता,—नही विस्मय,
धुल जाते जड सस्कार मलिन,
अस्तित्व निखर होता तन्मय !

उस तन्मयता मे भाव बोध
जगता मन मे स्वर बन नूतन,
सुरवीणाएँ बजती गोपन
सगीत स्पर्श हरता तन-मन !

वह कौन अप्सरा-अँगुली छू
आत्मा का करती रस मथन,
सपने बन जाते शब्द-सूर्य,
जगते रस चेतन सवेदन !

मानव की मूर्ति निखरती तब
इतिहास-पक से उठ ऊपर,
वह सस्कृति प्रतिमा मे ढलता,
भू मनुज-प्रेम का बनती घर !

सौन्दर्य प्रदेश

इन चन्दन आरोहों पर चढ़
मेरा मन हो उठता मूर्छित,
नीरव तम की सोई घाटी
मुझको सुख से करती विस्मृत।

मैं शुभ्र ग्रीव चित् शिखरों पर
धर धर स्वप्नों के पग निःस्वर
चलता प्रकाश आरोहों पर
लहराते मरकत जल के सर।

जग उठते रस सरसी उर में
चम्पक रँग हंस मिथुन सोए,
झूमते गन्ध कमलों के मुख
वे मुक्ता फेनों से धोए।

घटियाँ मेमनों की बजतीं,
घाटी के हों पग-पायल स्वर,
ऐसे प्रभाव पड़ते गोपन
भावाकुल हो उठता अन्तर।

चपल निर्झरों से घाटी तल
सान्द्र देता गिर रस उर्वर,—
आनन्द यहाँ चित् पावक भी
बरसाता जीवन सुख निर्झर।

रूप स्वप्न

खुले हृदय के रुद्ध द्वार !
भू जीवन के पुलिन चूमता
नव भावों का रश्मि ज्वार !

सीमा लाँघ रही असीम तट,
तृण के सम्मुख नत विशाल वट,
अतिक्रम करता अब अरूप को
रूप-स्वप्न उर में साकार !

इन्द्रियमुख ही आत्मा के स्वर
मिटा निखिल बहिरंतर अंतर,
रूप मांस बन शून्य बसाता
भू पर जीवन का घर बार !

रजत वह्नि सोपान से उतर
दिव्य चेतना बनी भाव नर,
पार लग रहा, लो, अपार—
पहुँची तरणी मँझधार !

सम्मुख मरकत पर्वत घाटी,
हँसती नीलम तम की घाटी,
हीर द्वीप में डूब सिंधु
पाता दिक् कूल उदार !

हरे प्राण-तिनकों का मृदु घर
जहाँ वास कर जीवन ईश्वर
चिर नूतन,—वह पिता पुत्र,
पत्नी माँ, जन परिवार।

जन्म मरण सुख दुख नित कातर
सत्य न अमर, न सरित न सागर,
सृजन मुक्त नव स्वर भरता
तृण मुरली बन स्वरकार।

स्वप्न-सत्य वर, देश काल तर,
हार शूल हर, विजय हार धर,
बोध दृष्टि से निराधार
पा गया हृदय आधार।

सृजन आस्था

कब फूट पडा मरकत गिरि से
जीवन का रजत मुखर निर्झर,
उर पाहन कैसे पिघल उठा
कुछ गूढ भेद या विधि का वर !

सुरधनु ज्वालाओ मे लिपटे
इसके विगलित पावक के स्वर,
कँपता ग्रहप-उन्मत्त हृदय
आवेशो के सुख से थर् थर् !

युग डमरु नाद, अब नयी सृष्टि
दृग मूर्त हो रही उर भीतर,
चित् सूक्ष्म राग, नव आस्था के
हो गूँज रहे स्वर्णिम मधुकर !

पागल हो सित आनन्द, नयी
प्रतिभा मे ढलता रस निर्भर,
अनगढ वन पर्वत कला—
तूर्य सन्देश, सूर्य-रव दिग् भास्वर !

स्वप्नो के डिम्बो मे बढता
जीवन का खग शावक कलरव,
आकार ग्रहण करती भावी
चेतना पंख फडका अभिनव !

रुद्ध मध्ययुगों का रुग्ण भार
मर्दित करता मानव अंतर,
विद्रोह कर रहा आत्म बोध
अस्तित्व निखरता उठ ऊपर !

स्थितियों की प्रस्तर कारा में
हत जन-भू मन जीवन जर्जर,
युग शंख-नाद तोड़े इनको,
दे नव जीवन संदेश अमर !

जन पर्वत बन कर युग मानव
निर्माण करे निज उर का जग,
इतिहास-सिंधु के भेद लाँघ
नव मनुज एकता के धर पग !

स्वप्न-सत्य

वे हीरक स्मृति की प्रिय घडियाँ
माणिक सुख के मनमोहक क्षण,
द्रुत बदल जगत का जाता पट
तुम आते प्राणो मे गोपन !

किस तडित् स्पर्श से जाने कब
खुल पडता उर का वातायन,
सौ सौ सुषमा के शुभ्र शरद
हँस उठते अतर मे पावन !

मेघो से दिखलाता शशि मुख
रज मोह निशा पथ कर दीपित,
रस की असीम स्वर्गंगा मे
इद्रिय विषाद कर अवगाहित !

दिग् विकसित होता जीवनक्रम
धुल जाता भू-रज का आनन,
सित प्रीति स्पर्शमणि अगुलि से
कुत्सित कुठिन बनता काचन !

पतझर वन मे जग खिल उठते
भावो के अकुर सवेदन,
स्वप्नो का सत्य जयी होता
खुल्ते यथार्थ के जड बधन !

अमर पाथ

भू जीवन के अमर पांथ, जय!
तुम्हें देखता सुनता कब से
मिलता पूर्ण न पावन-परिचय!

रचना श्रम में निरत निरन्तर
श्रांति क्लांति मन के प्रिय सहचर,
फूलों के पथ पर, शूलों के
संकट मग पर चलते निर्भय!

हँसमुख गात बिछे पग पग पर,
मूक व्यथा निश्चेतन गह्वर,
कुंठित ज्योति,—एक सत्, अगणित
छायाएँ उपजाती विस्मय!

तमस बवंडरों अंध प्रवाहों में,
युग संध्या चरितार्थ हारों में,
तुम विकास पथ पर, भू मन का
हृदय स्वर्ग में करते परिणय!

भटके व्यर्थ अबोध प्राण मन,
यत्न किए कितने ग्रन्थ गाथा,
कितना गुरु ज्ञान, कितने दर्शन,
मिटा न उर का भय, पथ-नायक!

ज्योति सदा सित शाश्वत क्षण का
बोध समग्र बना जीवन का,
एक दृष्टि से वस्तु जगत् जो
अपर दृष्टि से वह जगदाश्रय ।

इह-पर बहिरंतर समय लय,
एक अखंड सत्य तुम निश्चय,
स्वर्ग धरा-रज ही मे गुठित,
अक्षय सित रस म उर तन्मय ।

इंद्रिय जग चरितार्थ हुआ अब
लोक स्वार्थ परमार्थ हुआ अब,
मुझमे अपने को पाकर तुम
पूर्ण कृतार्थ हुए चिन्मृण्मय ।

प्रीति आस्था

रजत शांति नभ से कब उतरा
मैं मरकत आँगन पर ?
ज्ञात न था, यह शूल फूल की
भू ही आत्मा का घर !

भार मुक्त मन, अब न असंभव-
-प्रेरित उसका रोदन,
यह संतोष कि सीमा ही
निःसीम तत्व का दर्पण !

कुसुमित इंद्रिय वीथी ही में
आत्मा करती विचरण,
दीप-हीन दीपक-सी द्युति-मृत,
युगल मिलन ज्योति क्षण !

उठा सत्य पग जन-भू मग से
पशु बना शिव सुंदर,
विश्व विकास रहा प्रभु वंचित
कल्पित प्रभु विरहित नर !

मध्ययुगों का मृतक बोध
कुंठित करता जन-अंतर,
अतिक्रम कर इतिहास,
मनुज मन का होना रूपांतर !

ज्योति स्पर्श सित शाश्वत क्षण का
बोध समग्र बना जीवन का,
एक दृष्टि से वस्तु जगत् जो
अपर दृष्टि से वह जगदाश्रय !

इह पर बहिरंतर संशय लय,
एक अखंड सत्य तुम निश्चय,
स्वर्ग धरा-रज ही में गुंठित,
अक्षय सित रस में उर तन्मय !

इंद्रिय जग चरितार्थ हुआ अब
लोक स्वार्थ परमार्थ हुआ अब,
मुझमें अपने को पाकर तुम
पूर्ण कृतार्थ हुए चिन्मृण्मय !

प्रीति आस्था

रजत ज्योति नभ से कब उतरी
मैं मरकत आँगन पर?
ज्ञात न था, यह धूल फूल की
भू ही आत्मा का घर!

भार मुक्त मन, अब न अनमन-
-प्रेरित उसका रोदन,
यह संतोष कि सीमा ही
निःसीम तत्व का दर्पण!

कुसुमित इंद्रिय वीथी ही में
आत्मा करती विचरण,
दीप-हीन दीपक-सी द्युति-भृत,
युगल भिन्न ज्योति क्षण!

उठा मन्त्र-सा जन-भू मन से
पशु बना शिव सुंदर,
विश्व विकास रहा प्रभु वंचित
कलुषित प्रभु-विरहित नर!

मध्ययुगों का मूर्त बोध
कुंठित करता जन-अन्तर,
अतिक्रम कर इतिहास,
मनुज मन का होना रूपांतर!

स्वय बीतने को अब पतझर
सहज मजरित दिङ्मुख,
भू रचना उन्मेपित मन मे
समा न सकता क्षण सुख ।

मुक्त,—ऊर्ध्व मे टँगी बुद्धि
प्रभु-मुख विलोक मानव मे,
स्वग लोटता जन आगन पर
चिद् विकास पथ भव म ।

व्यक्ति समाज न दृष्टि-बिन्दु अब
ईश्वर भू पर गोचर,
नयी प्रीति आस्था घर करती
नव मानव उर भीतर ।

स सूर्योदय

सूय चद्रमा के प्रकाश मे
मैं न देखता जग को,
भौतिक लोचन—दीपित करते
वस्तु जगत् के मग को।

मेरे उर का रस सूर्योदय
देता दृष्टि मुझे नव,
देख रहा अतर्विधान मैं,
अतर्जीवन वैभव।

चन्द्र-सौम्य आभा मे दिखता
सूक्ष्म भाव-जग भास्वर,
स्वर्णिम मानस-भू प्रसार
ऊषाएँ हँसती नि स्वर।

अग जग ईश्वर का निवास,
मित प्रेम-तत्व ही ईश्वर,
स्थाणु-ब्रह्म मे इद्रिय-अकुर
फूट रहे रस उर्वर।

नव जीवन पल्लव, भावो के सुमन,
चेतना सौरभ
विकसित करते सूक्ष्म ब्रह्म को—
उतरा भू पर चिद् नभ।

हुआ कूप-तम मे स्वर्णोदय
हृदय गुहा ज्योतिमय,
ज्योति तिमिर परिरभण भरते,
भू पथ अघ से निभय ।

नया मूल्य देना जीवन को
इसमे मुझे न सशय,
मानव भीतर से विकसित हो
वहिजगत् पर पा जय ।

फूलो-से ही खिलो सहज—
कहते थे ईसा निश्छल,
वहिरतर सतुलित विश्व हो
भव विकास का यह पल ।

वंशी

छिद्र भरा नर वंश मिला
मुझको धरती पर,
फूंक दिए मैंने इसमें
नव आत्मा के स्वर।

मेरु वंश की मुरली,
सप्त कमल दल सरगम
अगणित रागों का नित
जिनमें होता उद्गम।

जन-भू के छिद्रों को भरने
आता युग कवि,
नए स्वरों में रंग जाता
मानवता की छवि।

रीता बांस मिला मुझको—
प्रभु प्रति कर अर्पित,
प्रीति श्वास से भर उसको
जन-भू मंगल हित—

मुखर किया मैंने उर-राग
युगों में कुंठित,
पूर्ण प्राण का रसावेग
निद् बनी मुखरित।

जो लगते ये छिद्र—राग स्वर
ये वे श्रुति-घर,
जिन्हें सँजो, साकार हो उठा
जीवन-ईश्वर ।

सीमित दृष्टि न देख सकी थी
प्रभु का प्रिय मुख,
मानव ईश्वर खड़े परस्पर
लो, अब सम्मुख ।

एक सत्य बहता उर मे,
रम वशी स्वर मे,
श्रुतिया के पथ से प्रेरित
जन जन अन्तर म ।

हरित प्राण-वशी मे
आत्मा की हीरक-लय
नए बोध मे करे
मनुज-उर को रस-तन्मय ।

सयुक्त

तन से वाहर रह, मुक्त प्राण
मैं इद्रिय भुवनो मे रहता,
मन से ऊपर स्थित, प्राणा के
पावक जल स्रोतो मे वहता ।

मानवी गुणो का प्रेमी मैं
चाहता मनुज-भू हो सस्कृत,
सौदय मर्जरित जन-जीवन
हो भाव विभव मधु से गुजित ।

ईश्वर-मानव ले जम नया
भू पर, जो जन मन मे गुठित,
नव आत्म-बोध उतरे उर मे,
नव मूल्यो मे हो र केन्द्रित ।

मिल प्रीति-तडित् चिद् धारा से
इद्रिय दीपक हो रश्मि ज्वलित,
रज-तन के शोभा दपण पर
अत प्रकाश मुख हो विम्बित ।

भू-जन के मगल से प्रेरित
विज्ञान शक्ति हो रचना रत,
जीवन शोभा हो दिक् प्रहसित
भव लोक प्रेम नव मानव व्रत ।

जन अन्न वस्त्र आवास तृप्त
हो, बहु शिक्षा संस्कृति साधन,
इन सबसे महत् मनुज मन हो
ईश्वर के प्रिय मुख का दर्पण।

आनन्द मेघ वह, रस अक्षय,
उर्वर जिससे जन-भू प्रागण,
उससे वियुक्त यह विश्व नरक,
संयुक्त, स्वर्ग रज का प्रति कण।

तन मे रहकर भी मैं विदेह
भू-ईश्वर पद रज प्रति अर्पित,
मन मे स्थित भी मैं मुक्त शोक
रस अमृत स्पर्श से चिर हर्षित।

स्वानुभूति

जब तक मैं प्राप्त करूँ तुमको
तुम सहसा हो जाते ओझल,
अन्तर में होते सहज उदय
बन नील मुक्ति के उज्ज्वल पल!

अपने ही में अनुभव करते
तुम करते मौन मुखर इंगित,
जीवन कर्मों के भीतर से
हो गए स्वत सत्ता विकसित!

जग में ही रह, भव बंधन से
हो जाता मुक्त हृदय तत्क्षण,
स्पर्शी मुक्ति, निःसीम मुक्ति—
कर सकती मुख न गिरा वर्णन!

आलोक हृदय में भर जाता
आलोक मधुर बाहर-भीतर,
मैं बन जाता आलोक रूप,
तन मन अभिन्न उसके सहचर!

वह सित प्रहप का होता क्षण
दिक काल हीन रस सवेदन,
आते ही होते अतर्हित
तुम, गुह्य उपस्थिति से भर मन ।

मैं सूक्ष्म अदृश्य जगत् मे बस
भोगता स्वप्न प्ररित जीवन,
खुल पडता चिन्मय के मुख से
मृण्मय यथार्थ का अवगुठन ।

प्रश्नोत्तर (१)

कहो, ईश्वर का वास कहाँ ?
धरा पर प्रेम निवास जहाँ !

सखे, क्या नरक, स्वर्ग, अपवर्ग ?
घृणा ही नरक, प्रेम ही स्वर्ग !

स्वर्ग से ऊपर क्या ? सित प्रेम !
नरक से नीचे ? अविजित प्रेम !

मुक्ति क्या ? सहज प्रेम-अर्पण,
प्रेम वंचित क्षण ? भव बंधन !

कर्म फल का हो कैसे त्याग ?
लोक हित अर्पित कर कृति-भाग !

प्रेम क्या ? अमृत वह्नि ही प्रेम,
आत्म-हवि देने में भव क्षेम !

पाप क्या ? होना आत्म विभक्त,
पुण्य ? भव प्रति होना अनुरक्त !

दया क्या ? प्रभु का परिरंभण,
धर्म ? तन्मय रहना प्रतिक्षण !

ज्ञान ? साधन भर, सिद्धि न साध्य,
प्रेम ही आराधक, आराध्य ।

नहीं साबुन से अधिक विराग,
हृदय पट मलिन न हो, मन जाग ।

भक्ति से श्रेष्ठ सहज अनुराग,
प्रेम ही अशन, शयन, भव याग ।

दीप सूर्य

यह दीप सूय
उर स्नेह भरा
निशि गह्वर मे हँसता जगमग !—

जब सूय चद्र तारा न रहे
चिद् जुगनू बन
निर्देशित करता रहा
जगत् जीवन मग !

यह पावक पलने मे झूला
मृण्मय दिशि आँगन मे खेला
नभ मारुत ने लोरी गाई—

यह उठा अचेतन तम से जग
जो इसकी सोई परछाँई !

भू पर तम की कुडली मार
यह उठा ऊध्व फण बन मणिधर,
ब्रह्माड विवर से निकल
पार प्रहरी सा
ज्योति नयन, दिग् भास्वर !

यह उठा, उडा द्रुत रश्मि पख,
छूने अनत का
काल हीन रम अबर ।
यह दीप सूय,
उतरा प्रकाश के निझर सा
दे काल हीन सत् को प्रवाह,
रह सका न सित सूनेपन मे,
यह लाँघ प्राण सागर अथाह,

स्थिर हुआ हृदय मदिर मे बस
बन प्रीति शिखा,
तज ज्ञान नेत्र का रुद्र दाह ।

यह दीप सूय
अब हृदय ज्योति,
आनद सृजन रस म तन्मय,
सौन्दय वहन म रत निभय,
नव भाव विभव करता सचय ।

इसका परिचय ?

यह हरे प्राण मन का सशय,
यह हरे विश्व सकट,
भू भय,
जग म हो मनुज हृदय
की
जय ।

आकांक्षा

अब भाव शिराओं में बहता
    नखशिख कचनारी सुख नि:स्वर,
घुल गई राग सुरभित चादर,
    शारद प्रमन्न लगता अंतर!

क्या होगा इस अकथित सुख का
    यह हीरक किरणों से विरचित,
नि:शब्द स्वर्ग चाँदनी सौम्य
    छाई रहती उर में अविदित!

अपने ही में परिपूर्ण स्वयं
    आनंद सिंधु यह उर मज्जित:
प्राणों की खोहों में गाता
    निश्चेतन तम को कर पुलकित!

मैं मन के इस तन्मय सुख को
    होने दूँगा न समाधि निरत,
तन के रोओं में बह, भू को
    यह शोभा उर्वर धरे सतत!

मैं जीवन रज का प्रेमी हूँ,
होने दूगा न विरज मन को,
क्षर मिट्टी मे सनने अरूप
अपनाता रूप-मुकुर तन को ।

जो गीत हृदय वशी स्वर बन
फूटता,—वहन कर विश्व-हृष,
मानव उर को स्वर्णिम लय मे
बाँध उसके सित भाव-स्पश ।

क्या सित समाधि सुख ? अतर्मुख
भावावेगो मे होना लय,
मैं धारण कर स्वर्गीय ज्वार
भू को प्रकाश दे सकू अभय ।

मैं कम समाधित, जन-भू का
सस्कार कर सकू लोकोत्तर,
नव मनुष्यत्व की ज्योति बनें
आभा उर अकुर,—मेरे स्वर ।

स्नेह दृष्टि

तुम कैसा स्मित पीयूष
आत्मिक बरसा भर देती,
हो उठता निर्भीक हृदय
पा दृष्टि स्पर्श स्मित ।

ये जो छाया के प्रासाद
उठे भ्रम मन में
कुण्ठा के टूटे रोड़े
जीवन मूल्यों के—

मैं प्रकाश की शक्ति से
उन्हें मिटा जाऊँगा,—
झाड़-पोंछ जाऊँगा
मनुज धरा का आँगन ।

ये जो वादों के घन दुर्ग
खड़े पृथ्वी पर
रूढ़ि रीति के
विधि विधान के—

मैं जीवन रज का प्रेमी हूँ,
होने दूगा न विरज मन को,
क्षर मिट्टी मे सनने अरूप
अपनाता रूप-मुकुर तन को ।

जो गीत हृदय वशी स्वर बन
फूटता,—वहन कर विश्व रूप,
मानव उर को स्वर्णिम लय मे
बाँधे उसने सित भाव-स्पर्श ।

क्या सित समाधि सुख ? अतर्मुख
भावावेगो मे होना लय,
मै धारण कर स्वर्गीय ज्वार
भू को प्रकाश दे सकू अभय ।

मैं कम समाधित, जन-भू का
सस्कार कर सकू लोकोत्तर,
नव मनुष्यत्व की ज्योति बन
आभा उर अकुर,—मेरे स्वर ।

विहगिनी

स्वर विहगिनी
फैला मुक्ताभ पख
प्राणो मे फूक शख,
उठती तुम ऊर्ध्व वेग
गगन रगिणी !

मन के कर क्षितिज पार
खोल हृदय-स्वग द्वार
बरसाती रस निझर
ध्वनि तरगिणी !

भेद बुद्धि-सूक्ष्म व्योम
पीकर अमृतत्व सोम,
गाती आनन्द मत्त
चिर अमगिनी !

वेध चन्द्र, वेध सूय,
घोषित कर सत्य-तूय,
हरती भव दृष्टि भेद
स्वप्न भगिनी !

तहस-नहस कर दूगा मैं
इनको पल भर मे,
प्रखर प्रेरणा झझा से
झकझोर हृदय को।

कैसा कोमल बल भर जाता
मेरे भीतर,
हिंसा स्वय ग्लानि वश सो जाती
मूर्छित हो—

घृणित उपेक्षित को
जन भू पर निभय करने
उठ जाते मृण्मय कर स्वत
अभय मुद्रा मे।

शब्द मौन रह जाते,
दृष्टि स्नेह की नि स्वर
अतर से झाकती—

वदल जाता जग का मुख,—
काँटे की झाडी से घिरा
फूल सा अकलुष

मनुज दीखता
शिशु सा विवश
जघन्य परिस्थितियो की
निमम कारा मे
आजीवन वन्दी।

विहंगिनी

स्वर विहंगिनी
फैला मुक्ताभ पंख
प्राणों में फूँक शंख,
उठती तुम ऊर्ध्व वेग
गगन रंगिणी ।

मन के कर क्षितिज पार
खोल हृदय-स्वर्ग द्वार
बरसाती रस निर्झर
ध्वनि तरंगिणी ।

भेद बुद्धि-सूक्ष्म व्योम
पी कर अमृतत्व सोम,
गाती आनन्द मत्त
चिर असंगिनी ।

वेध चन्द्र, वेध सूर्य,
घोषित कर सत्य-शून्य,
हरती भव दृष्टि भेद
स्वप्न भंगिनी ।

तम की केंचुल उतार
ब्रह्म दीप्त सहस्रार,
नाभि विवर मे जगती
चिद् भुजगिनी ।

१ फूल

जान कैसा
आत्मबोध का था
अवाक् क्षण—

विस्मय से अनिमेष
फूल देखता रह गया
मौन, स्वग मुख !—

गहरे मूला से
धरती के
रस का ले सुख !

२ चाँद

टूटी चूडी सा चाद
न जाने निजन नभ मे
किसको मृदुल
कलाई से गिर पडा !—

हाय, दूज की चाद
कौन, जग से अदृश्य,
गोरी होगी वह !

३ पक्षी

पहिली आध्यात्मिक उडान
पक्षी ने भरी ।
सदेह धरा से उठ ऊपर
वह अम्बर छूने को मचला—
चिर आत्म मुक्त, स्वर भर !

किरणो के रंग
गूथ परो म,
उतरा फिर धरती पर,
दाने चुन,
चुग मुह भर !

मौन फूल

अपलक, असीम मे से तन्मय
प्राथना कर रहे मौन फूल,
आखो मे उर का स्नेह-अश्रु
हिमजल मोती सा रहा झूल।

मुख पर खिलते शत भाव रग
सचराचर उर की हो आशा,
खुलता सौरभ का सूक्ष्म-विश्व—
नव भू-जीवन की अभिलाषा।

केसरी प्रेरणा तारो को
झकृत कर गा उठते मधुकर
मगलमय रच मधुचक्र महत्
मानस तन्त्री मे नव स्वर भर।

आकाश, सूय, किरणें, समीर
सब एक भावना से प्रेरित
लगते समग्र भव सगति मे
आनन्द मग्न, चेतना ग्रथित।

यह धरती भी अधखिली कली
भूमा के जीवन की सुन्दर,
प्राणो के शाश्वत यौवन मे
भावी के स्वग छिपे निभर।

लक्ष्य

मैं न अब रस गीत लिखता,
प्यार करता हूँ।
मौन सजन प्रक्रिया
चलती हृदय मे—
ताप उसको कहूँ गोपन,
गूढ हृप कहूँ ?
मैं न अब खग गीत गाता,
प्यार,
तुमको प्यार करता हूँ।

सूक्ष्म चित् सौन्दय
उर मे उदय होता—
प्रम के आलोक म
खोया हुआ मुख,
कनक वर्णी
फालसई परिवेश मडित—
इ द्रधनुओ के
अछूते रग कामल
बिखर बहु छाया स्तरा मे
भाव ग धी
मोहते
मन के हगा या।

ऊब बाहर के जगत से
हृदय को
विश्राम मिलता
डूब भीतर।

जहाँ केवल प्यार
निःस्पृह प्यार
ले जाता तुम्हारे
निकट मुझको—

वही पथ है
लक्ष्य भी,
तुम भी वही
मैं भी वही हूँ—

हाँ, तुम्हीं
इस सत्य को
सम्भव बनाती।

मैं न शब्दों को पिरोता,
प्यार,
केवल प्यार करता हूँ।

आश्रय

प्रेम,
तुम्हारा हूँ मैं,
इसमे मुझे न सशय,
तुम सर्वाश्रय !

तुम्ही दृष्टि हो,
रूप सृष्टि
चैतन्य वृष्टि हो !

आँखो मे सौन्दय,
हृदय मे सित रस ममता,
प्राणो के उल्लास,
सृजन सुख क्षण की क्षमता !

और कौन सी मुक्ति चाहिए,
भुक्ति चाहिए !
या अमरत्व, रहस्य तत्व,
ईशत्व चाहिए ?

तुम असीम आनन्द सिन्धु हो,
सूय चन्द्र तारा—
प्रकाश के केन्द्र बिन्दु हो !

तुम्हो जीवनी शक्ति,
सत्य अनुरक्ति,
समाज-मरन्द व्यक्ति हो !

कहा शब्द ?
जो व्यक्त कर सकें
वह सब आशय
जो तुम मुझमे भरते रहते,
हे परमाश्रय !

बीज

बीज सत्य की
सूक्ष्म खोज में
तत्ववादियो ने
छिलको को छील छीलकर
फेक दिया था—
उनको मायावरण मानकर !

मैंने फिर से
उन्हे यथावत्
बीज ब्रह्म मे
संजो दिया है !

अब समग्रता मे
मैं उसको देख रहा—
वह
साँस
सृष्टि मे लेता
शाश्वत !

का ते काता

का ते काता, कस्ते पुत्र ?
भू शोभा ही मनुज प्रेयसी,
जीवन महिमा,
लाँघ चुका नव मनुज प्रेम
गत युग की सीमा !

जाग रहा उर मे चित् स्पदन,
स्वप्न चकित, अपलक उर-लोचन,
दौड रहा सित रक्त
शिराओ मे नव चेतन !—

का ते काता, कस्ते पुत्र ?
मनोदृष्टि पर विजयी
भू आत्मा की गरिमा !

एक सचरण बाहर भीतर,
एक सत्यमय निखिल चराचर,
आस्था प्ररित थी,
शिव शिवतर,
जन भू जीवन बन ढलती
श्रद्धा की प्रतिमा !

का ते काता, कस्ते पुत्र ?
व्याप्त अकेला मैं ही जग मे,
मैं ही भव विकास के मग मे,
शूल फूल मे,
ज्योति तमस मे
मूत प्रेम हूँ मैं प्रतिपग मे !

बिन्दु सिन्धु मे, जन्म मरण मे
मैं ही स्वग सृजन की अतिमा !
का ते काता, कस्ते पुत्र ?

दारु योषित दृष्टि

उमा, दारु योषित की नाईं
जग को नहीं नचाते
करुणा सिन्धु गुसाईं !
यन्त्रारूढ विश्व भूतो को
माया जल से
नहीं भ्रमाता ईश्वर !—
सम्यक् दृष्टि नहीं यह !
ऐसा तो मानव भी नहीं करेगा,
वह तो परमात्मा है !

मंगलमय है प्रभु,
सम्पूर्ण दया निःसंशय,
प्रतिक्षण संघर्षण रत रहते
जीवों के संग !
आगे बढने,
भव विकास को गतिक्रम देने !

वैसा तो पूँजीपति करते,
उत्पादन साधन यन्त्रों को
अधिकृत कर जो,

सर्प रज्जु भ्रम

हाय, सप को रज्जु बताकर
    भ्रम ही आया हाय,
अधर मे अटका औंधा
    ब्रह्मवादियो का
        दिवाध मन !

जीवन का वासुकि सहस्र फन
कुडल मारे दिशा काल पर,
    स्वत सिद्ध,
        (जड ही मे चेतन !)
सिर पर धारे चिन्मणि भास्वर !

भव विकास क्रम मे
    गति के शत चिह्न अगोचर
    छोड रहा वह अथक, निरतर !

मिथ्या बतला सिद्ध सत्य को
    दीपक से विलगा
        दीपक की लौ अतिचेतन,
    ब्रह्मवाद ने, निश्चय,
        किया अमगल जग का
    भव तम भ्रम मे
        भटका भू जन ।

अन्त जहाँ वेदात—
देखता परे वहाँ से
कवि का ईश्वर अतर,
अविच्छिन्न जग ब्रह्म,
सत्य भव-सप,—
ब्रह्म का मूत रूप भर !

रूप शब्द को छोड
अथ की खोज व्यथ,
मित शब्द-अथ सपृक्त परस्पर,
रूप सप ही ब्रह्म, परात्पर !

रज्जु रज्जु, भ्रम भ्रम,
तम भ्रम से शून्य असशय
ब्रह्म सप क्षर-अक्षर !

दीप ज्योति ही मे होता
मृद् दीपक गोचर,
ब्रह्म ज्योति ही जगत्
ब्रह्म ही निखिल चराचर !

अन्न प्राण मन छील ब्रह्म से
ब्रह्मवादियो का भ्रम ही
बन गया ब्रह्म—
कवि को प्रिय ईश्वर,—
इह-पर कारण !

भक्ति ठीक थी,
जब विभक्त थे इह-पर मे
भव ईश्वर,
मैं अखड दोनो ही मे
जन भू पर अब
ईश्वर नर ।

मागो मत, मिमियाओ मत,
मैं ईश्वर हूँ न कि प्रस्तर ।
अति सवेदनशील,
मनुज काक्षाओ से मैं
अधिक वेगमय, द्रुततर ।

भू इच्छाएँ ज्ञात मुझे,
वे सब विकास पथ पर—
पूरी होगी—मेरा अक्षय वर ।
तुम्हे पूण अधिकार
उन्हे छीनो, पाओ,
भोगो हो निभय ।

मत निराश हो असफलता से,
निज कतव्य करो,
जन हित कर सचय ।
स्वाथ घृणित अति,
महत् लोक हित,
निज को पर, पर को निज करने ही मे
साथकता अविरत
मानव जीवन की निश्चय ।

सृजन प्यार करना है,
वह क्षण मैथुन हो
या ईश्वर चरणो मे होना
निरह लय,
इद्रिय रति हो,
आत्मबोध गति,
लोक कम मे होना या रम तन्मय।

यह जगती प्रेयसी मनुज की,
प्यार करो इसको—
अगणित आँखो से आखें मिला,

सृजन सुख इच्छा से
भू शोभा मासल
स्फीतवक्ष मे गडा क्लात मुख
एक प्राण मन हृदय असशय,—

राग द्वेष कुठा से क्ही महत् रे
रचना क्म,—
मनुज हित
प्रेम स्वग पथ निर्मित करने ही मे भू पर
मानव आत्मा की जय।

तृण तरी

छोड अतल उद्वेलित जल मे
तृण की तरी भली,
मैं निर्भय हो तिरता,
किसके बल से लघु तृण बली ?

छिद्र अनेक तरी मे तृण की
जाती सहज चली—
तृण न डूबते सरिता मे,
वह गहरी हो उथली ।

स्वप्नो के तृण, जला न पाता
चिन्ता पावक छली,
प्रीति तरी, जन जन उर के
स्वर्गिक भावो में ढली ।

जीवन कदम से उठकर
खिल आई कमल कली,
सूक्ष्म चेतना बल इसका बल
आत्मबोध मे पली ।

तन मन की आँधी मे
जब भी प्राण सरित मचली

चीर नीर यह आस्था तरणी
सहज पार निकली ।

जब जब भी सित सत्य अभीप्सा
उर मे फूली फली
जग के मृग मरु मे
चल जीवन तृष्णा स्वय जली ।

अमृत तरी

उस पार मृत्यु तट पर जो
नव जीवन ज्योति धरी थी
मैं उसे छीन लाया, लो,
यम से,—वह अमृत तरी थी ।

चिद् विस्तृत, जन्म मरण के
पुलिनो को करती ज्योतित,—
आनद तरी पर बैठा
मैं अव रस के भग मे स्थित ।

छँट गया मोह-तम, जिसको
मैं मृत्यु समझता आया,
मेरे प्रकाश मे वह थी
मेरी ही मानस-छाया ।

मर गई मोह रज देही
जो मुझे किए थी सीमित,
प्रिय जन्म मरण मेरे शिशु,
दोनो मुझसे आलिगित ।

ये श्याम गौर दो भाई
खेला करते मिल प्रतिक्षण

मेरे करतल-प्रागण मे
हँस, खोल-मूद निज लोचन ।

सब नाम-रूप अब मेरे
हरि हो, केशव हो, माधव,
निज को नित्त अतिक्रम करता
मैं बन पुराण से अभिनव ।

व्यवस्था

इस जगती का काँटो का मग,
जो रुके हुए
वे गध-फूल बन सकें सुभग
जब प्रेम धरे धरती पर पग !

यह अधकार की कृपण गली,
जब सत्य माग ही मे अटका,
दृग ज्योति वहक, भटकी पगली,
तब हृदय स्पर्श पा,
सत्य ज्योति
जीवन मगल पथ पर निकली !

यह अग्नि गत का सागर-तम—
उठ सका न जब चतन्य ऊर्ध्व,
छाया भूमा उर मे दिग्भ्रम,
तब रची प्रेम ने सृष्टि
सुझाया भव विकास का
क्रम निरुपम !

रवि चद्र न थे, या दिशा काल,
जब प्रकृति अध थी,
पुरुष पगु,

प्रारब्ध सुप्त ज्यो अधकूप,—
निकला वशी लय पर विमुग्ध
निश्चेतन बिल से सृष्टि व्याल

अपरूप शून्य
बँध प्रीति पाश मे
बना व्यवस्थित जगज्जाल ।

नया बोध

जब अवाक् हो उठता अतर
बहता तब सगीत मौन मे
किस अबर से झर-झर !

वह अशब्द सगीत
न उसमे भाव, अर्थ, ध्वनि, लय, स्वर,
तन्मयता अज्ञान,
आत्म पर रहित,
स्वय पर निर्भर !

चेत नही रहता जब मन को
कौन बजाता तब उर वीणा
सकेतो मे नि स्वर !

ज्योति-कमल खिल कुम्हला जाता,
अधकार उर घेर न पाता,
भान उपस्थिति का मिटता,
पर,
हृदय शून्य मे नही समाता !

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति न,
रहस अवस्था मे किस
कौन प्राण अभिपेक्ति करता
ज्ञान-अगोचर !

कूल नहीं, जल नहीं, सरित वह
मूल नहीं, दल नहीं, हरित वह,
इह-पर, इस उस पार न उसमे,
पूर्ण रिक्त सँग पूर्ण भरित वह,—

नए बोध मे जग मन कहता
जो वह, वही जगत् यह,
भिन्न न जग से ईश्वर !
जब अवाक् रहता हत अतर !

मृदु वास

खो जाता निर्वाक् नीलिमा मे
किशोर मन फिर फिर,
निर्निमेष रह जाते लोचन
नील मुक्ति मे तिर तिर !

मुझे घेरती शरद धुली
नभ की निर्मलता क्षण क्षण,
नीड बसाने को वह कहती
गगन शून्य मे नूतन !

हृदय स्पदनो का मैं विस्मय
—नीड सँजोता सुदर,
जहाँ प्रेम रह सके
स्वप्न-पखो के सुख मे छिपकर !

भय सशय शूलो से विध वह
हो न जाय आहत मन,
उसे सुरक्षित रखने मैंने
चुना स्वर्ग का आँगन !

प्रेम हँसा,—गोला, तिनको का
वास बना क्षण भगुर

भू पर मुझे बसाओ—
भय संशय के फूटें अंकुर !

शूलों पर चल, मैं भू कल्मष
उर शोणित से धोकर
क्षण भंगुर को शाश्वत सुख का
दे जाऊँगा सित वर !

द्यावा पृथवी में न समाता,
भूमा मेरा मंदिर,
अमृत पुत्र, शिशु-क्रीडा करता
मृत्यु-अजिर में अस्थिर !

नील शून्य हृत्स्पद रहित
जग हित प्रकाश गृह भास्वर,
धरती को ही चिद् जीवन का
मुझे बनाना मृद् घर !

अमर यात्रा

तृण की तरी
तीर पर ठहरी,
पाथ,
पार जो जाओ !

व्यथ धम नय पथ, दशन मत,
यान ज्ञान विज्ञान के महत्,
यह तृण तरणी,
सीमा ही मे लय
असीम तुम पाओ !

हरित पख तृण तरी क्षिप्रतर,
भव सागर अब और न दुस्तर,
नव आस्था मे डूब
हृदय का
कल्मप भार डुबाओ !

सृजन गुहा की द्वार यह तरी,
प्राण चेतना ज्वार से भरी,
आर पार का भ्रम न वहाँ
तुम इसमे जहाँ समाओ !

तरी सिन्धु, भव सिन्धु ही तरी,
दृष्टि हृदय की हो जो गहरी
प्रति कण तीर,
काल-लहरों पर
शशि-कर नीड बसाओ !

पाथ, पार जो जाओ !

अभिसार

नीलम तम के निभृत कक्ष मे,
रहती तुम छिप नि स्वर,
हरित तृणो का मरकत प्रागण
भाता स्फाटिक सु दर ।

मौन मिलन सुख मे मिलती तुम
रस त मय बन मधुक्षण,
कौन प्रेरणा करती तुमको
तन मन जीवन अपण ।

विस्मृति का सित अ धकार ही
नव प्रकाश उर मे भर
बरसाता आनन्द-स्पश-प्रिय
आत्मबोध के निझर ।

च दन सौरभ से भर जाता
रोमाचित अन्तमन,
सूक्ष्म स्नायुओ मे बहता
नव जीवन का सवेदन

तुम आती जब, शक्तिपात
सह पाता सिहर न तृण तन,
भावों के पथ से करती
अभिसार हृदय में गोपन !

जन्म ले रहा नया मनुज
स्वप्नों के उर के भीतर,
अभी वस्तु-आधार न प्रस्तुत
उतर सके जन-भू पर !

तुम्हीं खोल सकती भू-पथ पर
ज्योति क्षितिज वातायन,
रूढ़ि तमस से मुक्त, युवन-नर
करे धरा पर विचरण !

गत भू स्थितियों में सीमित [illegible]
आत्म प्रेत निज मानव,
नव्य मूल्य केंद्रित मन, [illegible]
भाव विभव से [illegible] !

चित्प्रदेश

नील भँवर जीवन रस सागर !
	फिरकी-सी उर नाव डोलती,
	काप रहे जड-चेतन थर-थर।

यह स्वर्णिम स्वप्नो की नौका
प्राण वायु का खाती झोका,
	पार लगे इस तृण तरणी मे
	कितने योगी यती व्रती वर !

आर न पार, न आना जाना,
वि दु विन्दु पर अमर ठिकाना,
	शकित चित्त न पास फटकते,
	यहाँ डूबने का न, पथिक, डर !

सरित न कूप, न सरवर सागर,
कूलहीन रस कूला मे भर
	नित अकूल ही रहता,
	रस ही भीतर-बाहर, नीचे ऊप !

यह न समाधित, यह न जागरित,
सुख सुख मे न समाता परिमित,
	यहाँ डूब मरने मत आओ,
	अति जीवित हो जाओगे तर !

परम बोध

नीलम का भू जीवन मन्दिर,
मरकत तृण पुलकों का प्रांगण,
सित प्रीति शिखा स्थापित भीतर,
आनन्द प्रणत करता पूजन।

ऊषा के स्वर्णिम रथ पर चढ़
सौन्दर्य उतरता भाव-मौन,
शोभा का स्रक् अर्पित कर
सोचता, रहस यह शक्ति कौन।

आश्चर्य महत्, कहते द्रष्टा
देवाधिदेव का अधिष्ठान,
यह मुक्ति न बंधन, परम बोध,
गाता शोणित अमरत्व गान।

प्राणों का सुख उठता पुकार,
हो जाता हृदय स्वतः तन्मय,
इस रूप सिन्धु में दिङ् मज्जित
लय हो जाते सब भय संशय।

यह रस के सित तम का कावा,
    घनश्याम राम जिससे विकसित,
यौवन प्लावित रखता जग को
    चिर जन्म-मरण तट कर मज्जित !

यह सृजन शक्ति का विजय केतु
    अभिभूत जगत् के जड-जगम,
तम-ज्योति मुक्त, गगा यमुनी
    मानव हृदयो का मित सगम !

यह भक्ति न कीतन आराधन,
    चित् सत्य सृष्टि क्रम मे मर्जित,
प्रस्तर की ईश्वर प्रतिमा भी
    पा हृदय स्पश होती विगलित !

रस बोध गहन ही नीलम मणि,
    सित रोमाचो के तृण मरक्त,
यह रस तन्मयता का स्वभाव
    मिलता कण कण उर मे पवन !

सीख

अवसाद ?
मत पास फटकने दो इसको,—
जीवन विकास हित
घातक यह,
भूजीवी के हित
पातक यह !

नही स्पिनोजा ही का मत
यह मेरा भी अनुभव, अभिमत !

हा, आह्लाद ?
इसे निज जीवन-सखा बनाओ,
श्रम को अपनाओ,
भू-जीवन मगल गाओ !

अपने लिए नही
स्वदेश के लिए भी जियो,
घाव भग्न-हृदयो के सियो !

यह धरती
जगती उनकी है
जो अपने ही नही
दूसरो के हित भी
जीवित रहते—

युग विकास वेला मे—
औरो के भी
सुख-दुख सहते !

स्वर्ण किरण

तुम कहती हो
(मन में दर्प दबा गोपन)
मैं स्वर्ण किरण
क्यों नहीं बाँट देता
तुमको भी,
औ' उबार लेना
तुमको भी—
अंधकार में भटक रही जो,
मग में पग पग
अटक रही जो।

गलत समझती हो तुम मुझको।
स्वर्ण किरण क्या बाँटी जाती ?
वह क्या किसी एक की थाती ?
भला, कौन होता मैं
स्वर्ण किरण का वितरक ?
—मुझे न ऐसा दंभ ?
नहीं हक।

स्वर्ण किरण तो
बरसाता नित चिदाकाश
बिखरा अनंत उल्लास

रोम रोम में घुसने को
आतुर लगती वे
अनायास!

तुम चाहो तो
तुम भी उनका चुन सकती हो
गुन सकती हो,—

दीपित कर सकती
उर मंदिर आँगन
तत्क्षण!

पर तुम तो
दुख के गौरव का
बोझ वहन करना,
भार सहन करना
कर्तव्य समझती अपना!
सुख हो मिथ्या सपना!

दुख ढँक लेता ईश्वर का मुख
धूमदीप वह मन का हुतभुक्,
छाया घन सा छा जाता जो
आत्मा के अकलंक चंद्र पर
उर प्रकाश हर!

दुख जो निष्क्रिय
वह तुमको प्रिय,
अपने ही मे सीमित
तुमको रखता सक्रिय !

स्वण किरण तो
तब पैठेगी भीतर
जब तुम अपने मन का
फेंको दमित अह का
विषधर फन
गर्वित गुठन !

क्या है दुख ?
अपने ही को रखना सम्मुख !
सुख ?
स्वार्थ विमुख हो
जग जीवन प्रति होना उन्मुख !

स्वण किरण
इससे भी पर
अक्षय अक्षर,
आनद दीप्त क्षण !

आत्म नम्र ही
जिसको कर सकता
श्रद्धा से वरण,

आस्था मे
भव-सिन्धु कर तरण !

प्रश्नोत्तर (२)

कवि, क्या कवित्व ?

रस सिद्ध शब्द !

क्या गीत ?

स्फुरण, मार्मिक निःस्वर !

क्या अलंकार ?

असमर्थ अर्थ !

क्या छंद ?

स्वतः झंकृत अक्षर !

रस ?

ध्वनि समाधि, वाणी से पर !

सौंदर्य ?

प्रीति-मुख का दर्पण !

आनंद ?

सत्व का रहस स्पर्श !

क्या अमर काव्य ?

रसमय दर्शन !

सौन्दर्य

पूछा हँस आनन्द ने सहज,
'कवि, क्या सु दरता अपने मे
स्वय पूर्ण है ?'

कहा हृदय ने,
'हाँ,
आन द प्रसू सु दरता,—
अपने मे
वह स्वय पूण है !'

कहा प्रेम ने,
'कवि, क्या सुन्दरता अपूर्ण है ?'
बोला कवि,
'वह मृद् प्रदीप भर,
प्रेम,
तुम्ही हो हृदय-ज्योति
सौन्दय-दीप की !
जिसको सित आनन्द रश्मियाँ
घेरे रहती !'

दृष्टि

यह नीलिमा
नयनिमा—
शाश्वत मौन नयनिमा,
देख रही अनिमेष तुम्हे जो।
सोच रही विस्मय अवाक्
तुम कितनी सुन्दर हो
भू पर कितनीऽ सुन्दर।

जब प्रसन्न रहती तुम
उषा सुनहली स्मिति का
सित प्रकाश बरसाती निश्छल।
लज्जारुण हो उठता नभ
पी अधर लालिमा उज्वल।

तुमको देख उदास
मौन गम्भीर साँझ
छा जाती भू पर—
रुक जाती तृण तरु अधरो पर
दिशि उर ममर।
लौट नीड को जाते खग
सोते कलरव स्वर।

तारा-घन सा
चिन्तन-गहन दीखता अम्बर
अपलक निशि मे,—
कैसे तुम प्रमुदित मन
सुख से रहो निरन्तर—
कैसे हो दुख का क्षय
प्रज्ञा उदय
धरा पर !

कब से चिन्तातुर
अगाध अतर अनन्त का—
पहचानो तुम मुख पतझर का,
पहचानो तुम
मुख वसन्त का !

शुभ्र शरद-सा
रहे अरूप चेतना का मन,
उठे प्रीति सौंदर्य ज्वार
जीवन सागर मे
हो कृतार्थ भू प्रागण !

नभ की सित नीलिमा
समा जाती
मेरे नयनो मे नि स्वर—
भाव दृष्टि
अन्तर को देकर !

और देखता तब मैं अपलक
कितनी सुंदर हो तुम भूपर
कितनी सुंदर।

ईश्वर ही का सत्य अनश्वर
सुन्दरता में स्वप्न-मनोहर
उतरा हो तुममें
सर्वांग मधुर स्वरूप धर।

धरती यदि
फूलों में खिलती,
वैसी ही तुम
उसे दीखती—
अकलुष निरुपम।

सौरभ में यदि
भरती वह उच्छ्वास,
तुम्हारे प्रति अनुराग
हृदय में उठता जाग।

यदि समीर
फिरता मद विह्वल,
या लहरों की बजती पायल,
तो वे केवल
तुम्हें देख हो उठते चंचल।

शुभ,
मधुर सौंदय स्पश पा
मैं भी तन्मय
सुख विभोर हो
तुम्हे गोद मे लेता हूँ भर—
और उठाकर
लगा हृदय से लेता सत्वर !

लगता तब,
मैं निखिल सृष्टि का भार
उठाए हूँ कंधो पर,
निखिल विश्व दायित्व लिये हूँ
अपने ऊपर !

ईश्वर सा अनुभव करता
मैं अपने भीतर !
हँस उठते सब रोम,
रूप की तडिच्छक्ति से
पौरुष से खिल उठता अन्तर,—
मस्तक से श्रम बिन्दु
बरस पडते झर झर झर !

कसे प्राण,
तुम्हारे रहने योग्य बनाऊँ
मैं वसुधा को,
मृण्मय घट मे
भरूँ सुधा को !

कैसे निज सर्वस्व लुटाकर
    तुम्हे बिठाऊँ
निर्भय, जन मन सिंहासन पर !—
स्वर्ग प्रीति की प्रतिनिधि
    तुम बन सको धरा पर
        मानवीय हो जग,
    घर द्वार बसे ईश्वर का !

तुम पर
श्री सौन्दर्य ज्योति
आस्था प्रतीति पर
शलभ मुग्ध नर
तन मन जीवन
    करे निछावर !

भारत नारी

भारत नारी,
तुम शोभा चेतना तपोज्वल,
कभी अपावन भी हो सकता क्या गगाजल ?
कितने शुभ्र वसन्त रुके जीवन डालो मे—
(शिशिर अश्रुकण अब न रहेगे स्मित गालो मे !)
अभिवादन करने को प्रिय चम्पक अगो का !
(सुरभित काचन को न मोह कृत्रिम रगो का !)

कबरी मे होंगे कृतार्थ हँस फूलो के दल
नव मरद गन्धो से गुम्फित विस्तृत अचल !
चचल मलय समीरण साँसो मे प्रवेश कर
शील सयमित, जग मे उर सौरभ देगा भर !
कोकिल कुहुक कहेगी—जग मजरित आम्र वन,
देह मान छोडो, विदेह प्रेयसी, सखी बन !

तुम वसन्त मे छिपटी होगी शारद सौम्य स्मित
भेद यही, मुख चन्द्र सलज होगा अकलकित !
सहज प्रेम बाँटो, बन प्राण जलधि मे तरणी,
मोह मुक्त हो राम, प्रेयसी तुम, जगजननी !

प्रेम

जाने कमे उदय हृदय मे
होता वह मुख ।
दीप शिखा, क चन तारा सा,
सलज अप्सरा-चद्रकला सा—
वह प्रिय-श्री मुख
मूत स्वप्न सुख ।

लो, वह शोभा मुकुल
खिल उठा अब दृग सम्मुख,
भाव-लोक मे
खोल पँखडियाँ मामल ।
वस्तु कुसुम से भाव कुसुम यह
कही मनोरम,
निरुपम,
सद्य कोमल ।

विहँस रहे प्रतिपल
सुषमा के सित सौरभ दल ।
वितना स्पर्शवय निरतर
स्वण मरद सुभग झर झर
प्राणा मे निखर रहा नि स्वर ।

कौन छद गा सकते महिमा
कवि तत्री मे स्वर भर !

सूक्ष्म अग्नि लपटें हो प्रतिक्षण
फूट रही छू रागाकुल मन,
खुलते उर मे
क्षितिज पर क्षितिज
भाव बोध के नूतन !

यह सौन्दर्य फूल मे सीमित ?
(फूल नही वह, चुवित मुख स्मित ?
फूल न मुख, वक्ष स्थल स्पदित ?
वक्ष न, हृदय प्रणय प्रति अर्पित ?)

तो, सौन्दर्य फूल मे सीमित ?
या वह मेरे अतर मे स्थित ?
मुग्ध दृष्टि से जब छवि प्रेरित
तुम्हे देखता मैं सुख विस्मृत ?

स्वग विभव मे स्नात
तुम्हारे अग-अग से
नव लावण्य बरसने लगता
रागि रागि,—अम्लान, अतद्रित !

तुमको लगता
तुम्ह निहार रहा मैं तन्मय
निर्निमेप दृग, विस्मित !

एक किरण हँस उठती
मौन मुकुल के मुख पर,
एक स्वग आलोक
तुम्हारे रोम रोम मे उमड
फूटने लगता बाहर।

मदल निखिल जाता परिवेश
विरस जीवन का
तडित् स्पश से।
शाश्वत लगता प्रणत
महत् उस क्षण पर निभर।

प्रेम,
कौन सी अमृत शक्ति तुम ?
मिट्टी स्पश पुलक पा
हँसती दूर्वा श्यामल,
रग पख पुष्पा को वरमा
तृण तरु गुल्म लताएँ कँपती
सुख से पागल।

अमृत स्पश से
शत सहस्र ब्रह्माड
सूय शशि तारा स्पदित
निद्रा से ज्यो जग
भर देते नील शून्य का अचल।

और एक साधारण मुख
    लावण्य कमल वन
अमित रूप-सुषमा के
    पावक दल फैलाकर
दृष्टि भ्रमर को
    करता मुग्ध, निर्निमिष प्रतिपल !

मध्य में बड़ा फूल,
    रस शतदल
  मनुज हृदय—
जिसमें असंख्य भावों की
    शोभा स्मित पंखड़ियां

प्रेम स्पर्श में
    नव रहस्य भुवनों में खुलकर
आंखों को रखती अपलक
    उर में विस्मय भर !

उदय हृदय में होता जो मुख
    उसकी सुषमा, महिमा, गरिमा
        तन्मय प्रेम-दृष्टि पर निर्भर !

मनुज हृदय ही स्वर्ग,
प्रेम ही जन-भू ईश्वर !

चद्रमुख

अब भी चाँद दिलाता याद
किसी प्रिय मुख की
मेघो से आ बाहर ।

भले वहाँ दिग् यान भेजकर
वैज्ञानिक जन-लोक बसाएँ,
कह, वहा ऊबड खावड तल,
वाष्प, रेत, कंकड रज छाए ।

नही मानता ग्रह उसको मन,
वह सौदय प्रतीक मनोहर,
निरपम मोहक रूप बिम्ब भर,—
विश्व प्रेयमी का मुख दपण ।

अब भी याद दिलाता चाँद
नील सुपमा की
स्निग्ध रश्मि बरसा कर ।

खोज रहा मैं शरद सौम्य मुख
जो हर ले उर-प्राणो का तम
हर ले जीवन का कृतघ्न श्रम,—

गहराती जाती
सकट की निशा धरा पर,
श्रद्धा आस्थाहीन हृदय,
छाया मन मे सशय भ्रम !

मुझे प्यार चाहिए,
प्रेयसी भी,
जो चाँद,
हृदय मे नीड बसा स्वप्नो का
बरसा श्री सम्मोहन
दीपित करे धरा पथ,—
अमृत सिक्त भू प्रागण,
सार्थक हो गरिमा से मानव जीवन !

और कौन प्रेयसी
तृप्त कर सकती
मन की अग्नि पिपासा,
कवि की आशा
शोणित की विद्युत् अभिलाषा ?

कौन प्रेयसी
मूर्तित कर अमूर्त सवेदन
स्वप्नो को दे सकती
जीवित मासल भाषा ?

प्रेम ?
गड गया प्राण पक मे
उसका मित रथ,—

घर आँगन से बाहर उसको
सुरुभ नही
महिमा विस्तृत पथ ।

घृणा द्वेष मे, कलुष क्लेश से
जजर स्वाँगिक हम
पडा जन-भू कदम मे
क्षत विक्षत,
मूर्छित रुथ ।

चाद,
याद आती मुझको
किस चद्रमुखी की ?
उमड सिन्धु रस प्रेम
मग्न कर देना नि स्वर
जन भू अतर ।

ात्म कथा

प्यार न मुझको मिला प्रिया से,
मिला महज आदर,
मैं प्रसन्न हूँ ! कहाँ प्यार को रखता
जग मे डर !

प्रेम बन सका मैं,
अपना सर्वस्व त्याग तुम पर,
नई पीढियो को देता हूँ
नए प्रेम का वर !

युवतीजन को युवक समादर दें,—
वे कोमल तन,
प्यार करें युवती युवको को,
प्यार मनुज जीवन !

शोभा बने धरा की नारी,
शोभा स्वर्ग प्रकाश,
मुक्त हृदय दे प्रेम विश्व को,
भू हो प्रेम निवास !

अमृत-प्रेम का गरल पान कर
मैं हूँ न्योछावर,
प्रेम देह-मन से उठकर ही
बनता श्रेयस्कर ।

प्रेम प्रकाश-सदृश बरसे
जन धरणी पर झरझर,
सार्थक हो भू जीवन,
मुक्त हृदय हों नारी नर ।

ऊर्ध्व श्वास, लय कहाँ हो रहे
ओ द्रष्टा मानव,
भू को करो प्रेम रस तन्मय,
स्रष्टा बन अभिनव ।

वशीभूत सित प्रेम-तत्व के
अग जग, सचराचर,
प्रेम सत्य शिव सुंदर स्रष्टा,
प्रेम मनुज ईश्वर ।

वेणी वार्ता

सिर से आँचल खिसका
मृदु वेणी लहराती
जब तुम आती
छाया वीथी से
नत सिर, स्मित मुख
क्षण भर
संध्या आँगन में रुक,—

वातावरण बदल सा जाता
तुम्हें घेरकर
चंचल हो उठती समीर
कवरी सौरभ पी,
स्वर्णिम शोभा-तीर
हीर किरणों से निःस्वर
प्राणों में धँस
रोओं में हँस
भावाकुल कर देते अन्तर!

उपचेतन आकांक्षा का
स्मिति दीप्त सुनहला छवि मंडल
छा लेता अविकल

सौम्य सलज प्रिय मुख को
कुछ पल ।

मुझे पीठ पर लहरी
उस भूरी कवरी मे
सभी मानवी मधुर भाव
तिरते से मिलते ।

कवि का किससे क्या दुराव ?
करुणा ममता
स्मृति, स्नेह, शील,
शोभा लज्जा—
अनगिनत मानसी हावभाव
अन्तर मे खिलते ।

हमगमनि,
हिलडुल कर
सुगठित पृष्ठ भाग पर
आमन्त्रित सा करती मुखको
शोभा लहरी
श्यामल कवरी
कोमल मध्यातप सी छहरी ।

कहती चुपके—मुखका छू लो,
छोडो भय सशय,

सच,
यदि निश्चय चाहता हृदय,
तो,
छू लो, मुझको छू लो !

कौन लोक मर्यादा इससे भग हो रही ?
या यह भूरी कवरी ही
निज रग खो रही !

शोभा-तम की सी निर्झर
यह तुमको
यदि लगती सुन्दर—
तो छू लो निर्भय !
यह होगी
वेणी ही की जय !

सम्भव, तुम खेलना चाहते
इस पाली पोसी नागिन मे
कितने दिन से !
शोभा जिसका गरल
स्नेह सौरभ ही दशन !
तो क्या उन्मन ?
छू लो, चुपके छू लो,
दुविधा भूला !

मैं अपने पर सयम रखता,
वर्जित फल जो
उसे न चखता।
वेणी मुझको भले लुभाए
सुन्दरता मन मे गुथ जाए—

पर, मैं वेणी छू लू तो
तुम क्या समझोगी ?
वयस मान से गाली मुझको
भले न दोगी—
मन मे तो झिझकोगी,
छल क्रोधित भी होगी।

भिन्न रूढियो मे है पली
तुम्हारी वेणी
मर्यादा तम श्रेणी।

इस स्वतन्त्र भारत मे
तुमसे स्वतन्त्र होकर
यदि वह मुझे बुलाए,—
तुम्ह न भाए।—

होगी क्या न ढिठाई ?
छू लू वस्तु पराई।

तुम परिणीता—
(वदेही थी यद्यपि सीता !)

अग अग तुमने
पति के प्रति किए समर्पित !
काम मूल्य मे सीमित !
और बँध गया अन मन
केवल देह भाव मे ,
डूब गई आत्मा की शोभा
चम नाव मे—
निखिल विश्व से गुण्ठित !

सत्य कविरा की वानी
नाव बिच नदी समानी !!

जो निश्छल सौन्दय प्रेरणा
उदित हो रही मेरे मन मे
वह कलुपित हो जाय न
खोकर त्वच प्रिय तन मे
तम के वन मे !

मुझको भय है,
यह सशय है—
जो अप्सर-अँगुलियाँ
तुम्हारी वेणी को छू
मेल्गी नि स्वर
दुविधा सकोच भूलकर—
(वे होगी भावागुलियाँ नर !)

क्या तुम उनका मूल्य
ठीक से आँक सकोगी ?
उर के भीतर
झाँक सकोगी ?
आदर भी क्या दे पाओगी—
भू तर का मन अनुभव भोगी !

फिर, ऐसे अप्रिय प्रसग को
वृथा जन्म दू—
मैं ऐसा न कामना रोगी !

तुम स्वतन्त्र भारत की
नारी हो नि सशय,
पर धरती की नारी अब भी
दह-वदिनी —निश्चय !

रुका मनुज-जीवन विकास-क्रम,
छाया चारो ओर ह्रास भ्रम !

स्त्री न काम-प्रतिमा से निखर
अभी बन पाई
शुभ्र प्रीति-प्रतिमा—
सौन्दर्य बोध श्री अतिमा !
गूढ विवशता
मन मे छाई !

मैं इस आशा
अभिलाषा से
धीरज धारे,
सयम से हूँ मन को मारे—

आनेवाली नयी पीढिया
भू जीवन मे
मूर्त कर सकेगी
नारी मे शुभ्र प्रेम को,
भाव क्षेम को,—

आज काम क्वरी
जो नागिन सी बल खाती
हृदय लुभाती ?
कल, वह बन
आनन्द सिन्धु लहरी
नाचेगी मुक्त पीठ पर ।
कल्मष दीठ हर ।

भाव मुग्ध
भावी भू यौवन
खेलेगा
विषहीन नाग से,
प्रेम आग से ।

सम्यक् बोध

तन से विभीत, मन के वन मे
जो करते रिक्त पलायन जन
वे जीवन ईश्वर के द्रोही
जिनसे विपण्ण जग का आँगन !

तन ही ईश्वर का विटप-वास
आत्मा म जिसके मूल गहन,
प्राणा के कलरव से मुखरित
मन धूपछाँह-जग-का आगन !

भू कर्म भूमि,—भव कर्म हीन
जो करते ऊर्णनाभ चिंतन,
वे मनोजाल मे फँसे मूढ
युग युग के मृत चर्वित चर्वण !

इद्रिय-द्वारो से जगती का
जो करते नवयुग बोध ग्रहण
वे ही प्रबुद्ध मानव देते
भव क्रम विकास को गति नूतन !

नर तन आत्मा का रूप-बिम्ब,
वह ईश्वर का मदिर सुदर,
रचती तन्मय रज भाव-सेतु
मित प्रेम विचरता नित जिस पर !

तन का तम आत्मा का प्रकाश
मिल, बुनते धूपछाँह जीवन,
भगवत् महिमा बनती रहती
चेतन से जड, जड से चेतन !

रचना प्रिय प्रभु, इद्रिय मुख से
गह दृश्य शब्द, रस गध स्पर्श
नव सूक्ष्म भाव वैभव जग मे
भरते नित श्री शोभा प्रहर्ष !

ज्ञान से वामित, वैराग्य निहत
धिक् भस्म-काम जो निष्क्रिय मन,
वे ज्ञान शुष्क-मरुस्थल मे तप,
मृग जल पी, ढोते जन्म-मरण !

रूप गर्विता

तुम सुदर हो, सदेह नही,
सुदरता का अभिमान तुम्हे,
जो सुदर शशि-मुख का कलक
क्या इसका भी कुछ ध्यान तुम्हे ?

सौन्दय हृदय ही का सित गुण
जो होता तन मन पर बिम्बित,
लहरा पर करवट लेती ज्यो
शशि आभा सम्मोहन रच स्मित !

भावना भगिमा से झाँके
ज्यो उषा झरोखे से मुकुलित,
मुम्हला ही जाता रूप मास
अगो पर मत हो अवलबित !

जाओ, सुहृदा से मिलो सहज
उनका कर अभिनदन सस्मित,
सौहार्द्र द्रवित उर-शोभा मे
हो सीमित-रूप अह विस्मित !

त्रेता की पतिव्रता विदेह,
द्वापर की परकीया तन्मय,
तुम भावों की आत्मीया हो
इसमें मुझको न तनिक सशय !

तन का परिणय पावक कदम,
मन का परिणय द्वाभा-सशय,
आत्मा का परिणय ज्योति अध
यदि हृदय न प्रणय सुरभि मधुमय !

आओ, मृद् तन से बाहर हो
उर सौरभ शील करो वितरण,
मन पखो पर उड छुए विश्व
तन से बोझिल स्तभित जीवन !

रूपसि, जो तुमको शोभा प्रिय
तन का तृण बोध करो अर्पित,
सिन प्रेम देहरी लाँघ, बनो
उर सुषमा ज्वाला से मडित !

मोह मुग्धा

दपण मे तिरते धूप छाँह
सर मे उठती लहरें प्रतिक्षण,
उर-मुकुर कपोलो पर पढता
मैं तेरे मन का सघपण !

आखा से भी झाँका करती
अतर की भाव व्यथा गोपन,
जाने तू क्यो रहती उदास
मैं समझ न कुछ पाता कारण !

मत रूप मोह मे प्राणो को
तू बाँध, निछावर कर तन-मन,
कैशोर व्याधि भर यह उर की,
क्षण रूप मोह निमम बधन !

तू भाव-साधना से वचित
जो देता राग जनित सयम,
आदान प्रदान हृदय का कर
तू बाट मोह सुख का तम भ्रम !

सबसे मिल, मन का सौरभ पी,
उर को न किसी पर कर अर्पित,
जो फूल वृत से झर पडता
वह मुरझाता रज मे निश्चित !

सित प्रेम मोह से भिन्न, सुते,
रज मोह लिपटता भर बाहर,
शुचि प्रेम डूबता अन्तर में,
वह बंधन, यह चिर मुक्ति अमर !

मिथ्या न, मोह—पगली बेटी,
ऋषि याज्ञवल्क्य के आप्त वचन,
प्रिय आत्मनस्तु कामाय सदा
पति, स्त्री, सुत, सुहृद्, सब, धन, जन !

इन निखिल वस्तुओं में जग की
प्रिय आत्म-सत्य ही का वितरण,
स्त्री सुत पति प्रेमी सहचर पशु
आत्मा ही के भिन्न पावक कण !

आत्मा का दर्पण था उसमें
सब देख मुग्ध अपना ही मुख,
ईश्वर मुख बिम्ब विलोक शुभ्र
जो व्याप्त चतुर्दिक् दृग सम्मुख !

तन में सीमित मन मोह भ्रांत
तन ही को करता आत्मार्पण,
तन में बाहर—मन आत्मा का
शोभा प्रकाश सुख का प्रांगण !

तू भाव-गौर देही में रह
श्यामे, नित बाँट हृदय सुख क्षण,
बन भू जीवन प्रेमिका सुघर
कर मोह-मुक्त पथ पर विचरण !

उद्बोधन

ओ छाया शशि भारत अबले,
तू छिपी छिपी फिरती निमन
क्या तू न धरा की श्री शोभा
कुसुमित जिससे जग का प्रागण !

पुरुषो से कट हट रहती क्या,
क्या हृदय-हीनता का कारण ?
तू उच्च बोध से पीडित या
लघु हीन ग्रन्थि से कुण्ठित मन !

पुष्पो के संग घुल मिलकर तू
रख सकती क्यो न हृदय पावन ?
शोभा-प्रेमी के स्वप्नो का
प्रिय मुख को बनने दे दर्पण !

तन मन पवित्रता का प्रेमी
भारत नारी का अभिभावक,
मैं देह-भीत मन से न तुष्ट,
मित हृदय मुक्ति का आराधक !

यह राग साधना का भू-युग
    हो काम प्रीति-मय को अर्पित,
वे भाव विकृत नर घृणा पात्र
    जो शोभा-तन करते लांछित !

भू उर के तप्त उसासो को
    होना सयम घन से शीतल,
उर के प्रकाश मे हो परिणत
    सहजीवन क्रम मे प्राणानल !

सह प्राण तड़ित् के स्पर्श सने
    बन शुभ्र हृदय चेतना युक्त
इस मध्ययुगी भू-आत्मा को
    पशु काम द्वेष से कर विमुक्त !

तन से विभीत मानवता से
    जीवन विकास क्रम चिर बाधित,
स्त्री-नर भय से अघ से सनते
    पाकर प्रतीति होते आहत !

सहजीवन आवश्यक मानिनि,
    तन से ऊपर उठ पाए मन,
आत्मा का स्वर्ग क्षितिज उर मे
    खुल सके,—धन्य हो भू प्रागण !

उर की पवित्रता से तन भी
    रहता पवित्र, यह नि सशय,
यह आत्मा के प्रति अघ महान्
    तन का मन पर छाया हो भय !

सित प्रीति यज्ञ स्थल निखिल सृष्टि
दिव हवि स्त्री नर के शुचि अवयव,
आनन्द जात भव सहजीवन
शोभा-मगल का हो उत्सव !

ओ स्नेहमयी लज्जे, शीले,
कवि उर का नम्र निवेदन भर,
जन भू मन का कल्मष धो, मा,
हो प्रीति ग्रथित नव नारी नर !

विरहिणी

विरहिणि, युग अभिसार करो !
मध्य युगों के कुन्जों से कढ
नवयुग नारी बन निखरो !

श्री शोभा मन्दिर हो स्त्री तन
सयम तप के मन से पावन,
न्योछावर हो प्रेम डगर पर
भू यौवन को अक भरो !

देह न रति से होती कलुषित
हृदय प्रेम प्रति जो सित अर्पित,
व्यक्ति रूप को तजो, मोह वह,
मनुज हृदय को अभय वरो !

विरह न सत्य, रूप स्मृति-कुठित,
आत्मज्ञान से रखता वचित,
युगल प्रतीक पुरुष स्त्री का हो
हृदय-मिलन,—भव सिन्धु तरो !

हृदय एक रे, हो अनेक तन,
हृदय बोध को कर मन अर्पण,
नव युग श्री सीते, श्री राधे
जन-भू विरह विषाद हरो !

जीवन पीठ बने जो अभिनव
शाश्वत मिलन धरा पर सम्भव,
नव्य मूल्य केन्द्रिक भू-मन गढ
धरा-स्वर्ग पथ पर विचरो !

घृणा द्वेष निन्दा का भू-पथ,
गडा पंक मे आत्मा का रथ,
शप्त शूल को खिला फूल मे
बढो अभय, न डरो, न डरो !

बहता सित आत्मिक रस-सागर
भू मन पुलिनो को मज्जित कर,
तन के स्तर पर यह भगवत् रति,
देह गेह मे रह न मरो !

हिम अचल

बैठकर हिम चोटियो पर
मौन, सित एकान्त गाता ।

देखता सा नील का मुख
फिर धरा की ओर उन्मुख
सेतु सा वह स्वग-भू के मध्य
शब्द-रहित सुहाता ।

हिम शिलाओ तले शीतल
बह रहे जल स्रोत कलकल,
दृग् अगोचर,—वेणु हो
एकान्त निजन मे बजाता ।

बज मृदग ढिमिक ढिमिक स्वन
चकित कर देते श्रवण मन,
हिम शिलाओ मे छिपा नद
भेद सत्ता का बताता ।

सूर्य किरणें सप्त रँग स्वर
गीत गाती यहाँ नि स्वर,
शुभ्र उर एकान्त मे
सगीत मे गम्भीर नाता ।

दूर जाती दृष्टि—निश्चल
शुभ्र घन हिम राशि केवल,
अकथनीय असग सित सुख,
समाधिस्थ स्वय विधाता !

वसन्त

अह, कब से रुका विधुर वसन्त
अब झुका मुग्ध जन धरणी पर,
लोटता उमड आनन्द-मत्त
फूलो का गन्ध-फेन सागर !

भू से गिरि-शिखरो पर चलता
स्मित रगो के चचल-पग धर
दिङ् मर्मर के कर क्षितिज पार
नभ को बाहो मे लेता भर !

पीले सरद की चग उडा
दे रहा ढील गह मलय-डोर,
द्रुत कूद शिखर से धरती पर
दौडता लपट सा वन किशोर !

अब लतिकावृत वन-श्री का उर
जावक-अगुलि नख से विक्षत,
झुक फुल्ल-भार माधवी-लता
रस ढीठ युवक सम्मुख पद-नत !

एकाग्र—गगन-से दिशा श्रवण,
सुन शख-हृष कोकिल के स्वर,
पख-ध्वनि कर कुसुमित सन्देश
देते उड अग्रदूत मधुकर ।

अब बीजा के मुख मे अकुर,
अकुर-करतल मे नव किसलय,
किसलय वेणी मे गुथे फूल,
फूलो के मृदु उर मधुप निलय ।

कितने छाया रँग के प्रवाल
रवि किरण तूलियो से चित्रित
प्रारूप दिगन्तो मे अनन्त
ऋतु सुषमा का करते अकित ।

अब आँगन पचनारी अम्बर,
रोमाचित लगती अमराई,
पल्लव मासल मजरित धरा,
वन-वन पलाश-लपट छाई ।

अतर का यौवन रे, वसन्त
वह सूक्ष्म भाव वभव सुरभित,—
दिक शोभा पी दृग निर्निमेष,
मधुचक्र जगत् रस-श्रम विरचित ।

पावस

तुम भू-ऋतुओ की सम्राज्ञी
नभ से भूपर करती शासन,
राजोचित महिमा गरिमा से
दिव पय पर चलता रथ दिक्-स्वन !

दिग् विजय दप से फहराता
अवर मे इद्रधनुप केतन,
किरणो के सतरँग पुष्पहार
सुरगण विस्मित करते अपण !

तुलना न तुम्हारी मधुऋतु से
वह भू अँग भले करे कुसुमित,
सौरभ मरद उच्छ्वासो से
जन मन का क्षितिज करे रजित !

सतो को प्रिय हो भले शरद्
चेतना चद्रिका से परिवृत,
हो मुक्त हस करते विचरण
जल कमल पत्रवत् अत स्थित !

हेमत शिशिर सकीर्ण हृदय
रीते वन आँगन के पतझर,
असि-धार शीत खर सरित-मरत
कँपते रहते तन मन थर्थर् ।

सुम जल-कुबेर, कृपको की ऋतु,
उर मुक्ता लडियो से मडित,
सुन पग-ध्वनि भावाकुल जन भू
होती शस्यो मे रोमाचित ।

विद्युत् लेखा सी तन तनिमा,
रखती अनिमेप नयन विस्मित,
भू के विपण्ण जीवन के क्षण
अत स्फुरणो से कर दीपित ।

घन अजन रेखा से, नभ की
नीलिमा दृष्टि करती मोहित,
उडती बलाक ध्वज श्वेत पक्ति
दिक् शाति पत्र लिखती हो सित ।

सुन मद्र स्तनित कँपते दिगत
निश्चेतन होता समुच्छ्वसित,
हँस उठती पुलक प्ररोहा म
भू रज नव बीजो से गर्भित ।

आओ, श्यामे, सागर तनये,
झनका नव साता की पायल,
जग धरणी का सताप मिट
भू अचल हो दिक् श्री श्यामल ।

शरद

अब हरी धूप से धुली दिशा
नीलातप का नव नभ मण्डल,
ओझल जाने कब हुआ रिक्त
तीतर पखी मेघो का दल ।

विहगो के रोए गहराए,
लहराए पखो मे नव रँग,
कलरव मे सुख की चिनगारी,
उल्लास भरे पुलको के अँग ।

निमल जल, मचल रही लहरे,
कँपते दुहरे तिहरे प्रतिफल,
अब सरित धार मे रजत वेग
बज उठती पुलिना की पायल ।

मत पूछो, वाष्प शिथिल समीर
इठलाती कौश-मसृण चचल,
गधो की तन्वगी ऋतु को
बाँहो मे भर मधुरज कोमल ।

यह कौन किशोरी, नव गोरी,
जो हँस-हँस हर लेती जन मन,
मन से भोगा जा सका न जो
क्या वह शाश्वत सित यौवन-क्षण ?

ऋतु नही, सौम्य शशि मृग पर चढ
फिरती अकलुष ज्योत्स्ना सुदर,
निज भारहीन श्री शोभा मे
चल पाती जो न कठिन भू पर ।

यह वशी ध्वनि अपना स्वर सुन
हो उठी स्तब्ध, मोहित, नि स्वर ?
नव आस्था या जो उर को छू
करती जीवन का रूपान्तर ।

पावस विषाद मिट गया,
स्निग्ध उर मे प्रहृप-जग उठा निसर,
छाया बनकर भाया प्रकाश
माया मे हो गुण्ठित ईश्वर ।

पतझर

अब नरकुल के लंबे पत्ते
नावई रंग के मन भाते,
पीले पीले पतले डंठल
पागल बयार में लहराते !

दो पैरों पर खरगोश खड़े
फुनगियाँ नरम चुनचुन खाते,
भय से सतर्क दो उठे श्रवण
संकेत विपद् का बतलाते !

थल के जीवन की चल लहरी,
शक्ति सी, रोमिल पूँछ फुला,
गिलहरी नाचती तड़ित्-स्नायु
पाकर सम्मुख मैदान खुला !

अँगुलियाँ राम ने फेरी थीं,
हो सदय, पीठ पर रोम-भरी,
इस जीव-जगत् की चपला के
अब भी स्मृति-छाप लगी गहरी !

चौकडी मारना भूल हिरन
चरते लेटे, तृण-खर, कँपकँप,
सीघो से खुजा परस्पर तन
सेंक्ते निभृत मे स्नेहातप ।

खग-शावक पतझर आँगन मे
उड, कुदक, मटक, चुगते दाने,
मर्मर स्वर भर झरता तरुवन,
गाता अब उर न चहक गाने ।

तरु विरल-टहनिया के पजर
कँपते पीले दो-एक पत्र,
भू पर कृश छाया रेखाक्ति
रज-लुठिन मरक्त शीश छत्र ।

वन मे ही नही मनुज मन म
अवसाद वही गहरा छाया,
चेतना एक भू-जीवन की—
ठिठुरा जल, ठिठरी गिरि काया ।

तीव बोध

वतखा की चिक्नी पीठो से
चिपके गीले ओसो के कन,
वे पख झाड, ग्रीवा मटका,
करती प्रभात आतप सेवन ।

पीली चपटी चाचा मे अव
फूटता भयात तरल गायन,
करुणार्द्र ककहरा जीवन का
रटना हो भूखा प्यासा मन ।

चितकवरा, रागी पृष्ठ भाग,
भूरे रँग के मटमैले पर,
खैरे रँग का उभरा सीना,
जल-थल मे पक उन्हें प्रियतर ।

कीचड मे चाच गडा, चुनती
पोषण, जीवो जीवस्य अशन,
पतले भिल्ली के पजा पर
चलती वे, पकिल भू प्रागण ।

कदम स्तर पर भी, ज्ञात उन्हे,
सित अनघ विद्ध जीवन ईश्वर,
जो समा न सकता अग जग मे
वह छिपा कीट के उर भीतर ।

सापेक्ष जगत् यह नि सशय,
सब माना मे स्थितिया विम्बित,
निश्चय ही वह नि सीम महत्
जो पग पग पर क्षण मे सीमित ।

खोज

अब फिर से
आकाश कुसुम को
शशक श्रृंग को
खोज रहे वन्ध्यासुत चिन्तक—
नए क्लीव दर्शन से गर्भित,
अह समाधित !—
आत्म व्यथा की प्रसव वेदना
सह मर्मान्तक !

छाया शब्दों का कोलाहल
मिलता नही समस्या का हल,
विश्व समस्या का कोई हल !
भय सशय के
धुध धुएँ के घिरते बादल,
बढते श्वेत चीटियो के
दल पर शतमुख दल !

विजित पडी श्रद्धा आस्था
धरती पर घायल,
सृष्टि पहेली,—नही कही हल,
कुछ भी तो हल !

मध्ययुगा के मूढ
अध विश्वासो से हो वाहर
विजय ध्वजा फहराता
आता
अध आधुनिकता का युग रथ—

यन-अश्व
भौतिक-चक्रा पर
वढत युग यथाथ के पथ पर—

नव सारथि विज्ञान
ढीलता रश्मि
अनास्था की जन दुस्तर !

अह, यह अणुबम, वह उद्जन बम,
छाया युग मानस म दिग्भ्रम !
अध गली म धँसा बुद्धि रथ,
तन-मन रक्त-व्रणा से लथपथ,
व्यथा अकथ,
युग क्या अन्य !

इन गिने अस्तित्व शेप अव
सहने मूक अमूत वञ्चना सब,
शून्य मत्य से मनादश जन
रिक्त अहता ही अगप तव,—

बिम्ब प्रतीक उभरते अगणित
सवेदना भगि परिवर्तित,
कथ्य शून्य हो भले
कलात्मक शब्द-वेश अब !
रस न लेश अब !

बलिहारी, यह नव युग की छवि,
मैं न बन सका युग स्रष्टा कवि,
जुगनू हो सगठित
चमकते बन नव युग रवि—
मनुष्यत्व पर
गिरा लाज पवि !

क्षणजीवी

हम अँधियाले वतमान क्षण ही मे रहते,
वृद्व यथाथ का दश मम मे प्रतिक्षण सहते ।
गहरी व्यक्ति व्यथा की गाथा गाते गोपन,
घोर ह्रास विघटन का क्रदन वनता दशन ।

स्वय जिए भोगे क्षण का कविता मे जीते,
घूट मूक अस्तित्व वेदना विप की पीते ।
तुम कल के नव आदर्शों के गाने गाते,
ऊध्व पलायन सिखा लोक मन को वहकाते ।

रीते भावी सपने लिये लगाते फेरी,
चिडियो के रोमिल पखो की हो मृदु ढेरी ।—
तुम यथाथ की आँधी म फू उड जाओगे,
आँख फेर युग कदम से थू मुड जाओगे ।

हम सवेदनशील, ढील देते जन मन को,
नैतिक हो कि अनतिक ढोते जीविन क्षण को ।
सवेदन की ठोकर खाता मन पग पग म,
वह अमृत वेदना दौडती अह, रग रग मे ।

सहज स्फुरण का क्षण होता क्या गज भर लंबा ?
वह भी क्या धरहरा, ढला लोहे का खंभा ?
सृजन प्रेरणा होती जिन कवियों की लंबी
कलाकार वे नहीं, 'शब्द-सागर' भर दंभी !

उछल चटुल मछली जब जल के ऊपर आती
उस प्रयोग में वही नयी कविता बन जाती !
भावी कविता होगी सूक्ष्म तार की भाषा
अपने ही में खोए कवि से हो क्या आशा ?

चित्रों, बिम्ब, प्रतीकों की वह होगी शैली,
कथ्य शून्य, रसहीन, मुक्त छंदों की थैली !
कौओं के हों चरण चिह्न भू-रज पर अंकित
संवेदन भरते कविता में विद्युत् इंगित !

कहाँ समाज ? व्यक्ति सत्ता ही बाहर-भीतर,
सत्य मात्र व्यक्तित्व, बिंदुओं का ही सागर !
मानव मूल्यों का भी प्रश्न कहाँ पर आता,
सार्त्र मूढ़ अस्तित्व स्वयं जब हमें चलाता !

आस्था किस पर टिके ? चतुर्दिक् बौद्धिक संशय,
मिटी न भोग-पिपासा, छाया ध्रुव, मृत्यु भय !
घोर अनास्था सच्ची पृथु भावी-पुराण से,
वध अराजकता अच्छी जड़ विधि विधान से !

तुम भविष्यवक्ता बन रटते भावी, भावी,
वर्तमान क्षण बुरी तरह नव कवि पर हावी !

सूरज और जुगनू

सहज भाव से बोला सूरज
स्व प्रकाश—
तुम मेरे ही दीप्ति-अंश,
क्षण ज्योति हाम !

अपने ही छोटेपन के
अज्ञात बोध से
भड़क उठे जुगनू
यह सुनकर ।

छेड़े वरों-से सब घूम
अराजकता के
अंध वेग मे,
चमके तुनक तमक वे,
सूरज को ललकारा,
किरणों को फटकारा ।

(ओजहीन ललकार
चिनगिया-सी
अपनी ही
स्व लघुता म निराधार
बुझ गई स्वत)
दिनकर भी चुप रहा अत !

बोले कुछ जुगनू
सौ सौ आखे तरेर,
हम अग तुम्हारे ?
बवारे छायाप्रभ स्फुलिंग
तम मे भी हारे ?

ग्रहवीर, आलोक-हीर हम,
भव तम सकते तुरत चीर हम,
आत्मदीप, मणि ज्योति द्वीप,
निशि तम प्रवाह मे अडिग,
धीर हम !

जाओ, जाओ,
हट जाओ,
तुम व्यथ न दर्प दिखाओ !
हमे तुम्हारी
तनिक नही परवाह,
तुम दिन के,
तो, हम निशीथ के
ज्योतिवाह !

सूय अस्त हो गया,
सुनहली द्वाभा बरसा,
सध्या उर मे
सूय सो गया !

हँसे ठहाका मार
तुरत जुट
पुटपुट म पटवीजन ! --

निशि पथ निजन,
तिमिर वन गहन,
निकल पड़े दल बाध
कूप-नीडो से अपने
थोथे सपने ।

लगे नाचने घूम घूम सब
युग भू तम मे झूम झूम अब,
तडप, उगलने लगे प्रकाश
धरा आगन मे ।
काले तिमिर-कोयले पर
बैठे चिनगारी की
तितली-से,
उसको सुलगाने को
आशान्वित
निज मन म ।

चटुल स्फुलिंगा का हो जगल
ज्योति बिन्दु खद्योता का दल,—
अधकार आँगा का बहरा
होता गया और भी गहरा,
और, और भी गहरा—
खद्योता का युग जो ठहरा,
युग जा गद्याता का ठहरा ।

धरती

जन कर-स्पर्शों की ठहरी मैं,
नव जीवन में होती पुलकित,
मा धरती, रज-प्रतिमा, जिसमें
इतिहास जीव-जग का गर्भित!

मैं ठण्ढी सूर्य,—मयूख जाल
रज रोम-कणों में अन्तर्हित,
पी आत्म ज्योति, आनन्द मूक,
मैं जीवन-पीठ बनी विकसित!

मैं मनुज देह हूँ—सूक्ष्म स्नायु,
जो स्वर्णिम भाव-विभव पोषित,
शस्यों से पशुओं, मनुजों तक
भव एक सृजन सुख से प्रेरित!

मैं मृद् प्रतिमा ही नहीं,—
विहग बन, उड़ती विस्तृत अम्बर में,
यह धरा चेतना—विचरित जो,
जगती के निखिल चराचर में!

मुझमे हँसते फूलो के पल,
मुरझाता चेतन स्पद-रहित,
मैं जन्म-मृत्यु के पल्ने मे
जीवन तारुण्य झुलाती नित ।

मैं मानवीय बन सकू—वन्य युग-
बबरता से उठ ऊपर,
मनुजा को ही सौपा मैंने,
जीवन-विकास दायित्व अमर ।

शशि मगल मेरे पथ सहचर,
नर उनसे हा कि न हा परिचित,
जन-भू जीवन मगल उनको,
सब से पहिले करना अजित ।

पुम्पाथ अजेय मनुज सम्बल,
उर लोक प्रेम को कर अर्पित,
राष्ट्रा मे बिखरी युग भू पर,
नव मनुष्यत्व करना स्थापित ।

भारत भू

यह शतियों की गोपित धरती,
जो जनगण की भारत माता,
बड़ा सदय औ' बड़ा निष्करुण
इसके सँग अह, रहा विधाता।

भूत-निशा में ज्योति दिशा पा,
इसने परम तत्व पहचाना,
मृत्यु सिंधु तिर, अमृत पुण्य का
पाया शाश्वत ठौर-ठिकाना।

वहीं रुक गया इस भू का मन,
धरती में उठ गए चरण क्या?
परम तत्व से ज्योति अंध हो,
शून्य ब्रह्म का किया वरण क्या?

सहज दृष्टि खो गई हृदय की
तर्कों मतवादों में जर्जर,
खड़ा रहा देखता सामने
निखिआया ना जीवन ईश्वर।

छील छील तन मन प्राणा का,
ब्रह्म-तमस, जो आत्मा पाया,
उसको लेकर मन जन भू पर
हाय, न पुन लौट कर आया ।।

जो अखण्ड सित सत्य, हुआ वह
जगत् ब्रह्म म द्विधा विभाजित,
रहा उपेक्षित विद्याधा से
सृष्टि-तत्व वरदान अयाचित ।

चिन्मय हुआ हृदय, पर वह क्या
जगदात्मा मे भी रस तन्मय ?
जगत् अयस को बना सका क्या
प्रेम स्पशमणि से सुवणमय ?

मुक्तात्माएँ खद्योतो सी
भू-तम कर पाईं न प्रकाशित,
रहा अपरिचित जीवित भास्कर,
जन भू-जीवन मे जो प्रसरित ।

हुआ सृजन-सुख मे भी रत क्या
विमन, रसो वै स का द्रष्टा ?
धिक वह सत्य-बोध-असि, जिसन
खण्डित किए सृष्टि औ' स्रष्टा ।

शत सहस्र जन-कर-पद स कर
जग-निवास ईश्वर का विरहित,
अमृत शक्ति के अमित स्रोत से
किया त्याग जीवन को वचित ।

अह, कब से यह भूमि पडी है
तन मन जीवन से क्षत-विक्षत,
खडा पीठ पर पद-नत जन के
दारिद्रय का दु सह पर्वत !

जीवन-मृत भू के नारी नर
रूढि रीतियो के जड पजर,
पथराए जन ग्राम, विकृत
अनुकृति विदेशिया की हत नागर!

पुन मुक्त रह मुँदे हृदय दृग,
मन समग्र ने करता दर्शन,
प्राण शिराओ म फिर गाता
नव जीवन शोणित भर स्पदन !

ज्योति-नमन आलिगन भरत
माया ब्रह्म प्रीति सयोजित
धरा धूलि न उगाता ईश्वर
भाव शस्य सपद् वन विकसित !

बहिर्मुखी भौतिक भू-नभ को
अ ाह ष्टि प्रकाश दान कर
शिव समाधि से जगता भारत
युग भू सकट ग— पान कर !

अमृत तत्व ज पी भू इनका प्रणाम
य व नि चल
भू जीवन प्रेरणा ही अमृत—
जो जन मन म भरती नव बल !

भारत गीत

जय भारत, जय स्वदेश!
जगी जहाँ सत्य ज्योति,
जगा दीप्त नवोन्मेष!

प्रथम सूर्य-दृग प्रभात
हँसा अमर रश्मि स्नात,
बँधे निखिल सचराचर
प्रीति-पाश में अशेष!

आत्म शक्ति में अजेय,
विश्व शान्ति परम ध्येय,
कर्म-तरुण, भक्ति प्रौढ़,
ज्ञान-वृद्ध भू विशेष!

नभ से पर जो प्रकाश,
जन-उर उसका निवास,
हृदय ध्यान साध मग्न,
पढ़त मौन निर्निमेष!

छाया दिग् धूम ह्रास,
रुद्ध अब मनुज विकास,
शिविरों में बँटा विश्व,
युद्ध-नद्ध राग-द्वेष!

देख शत्रु बल-प्रमाद
करती भू सिंह नाद,
शौर्य वीर्य मे अदम्य,
सजते सुत वीर वेश ।
जय भारत ।

जय गीत

जय भारत माता,
जयति ज्योति-स्नाता ।
शान्ति-ध्वजा सा शुभ्र हिमालय
नभ मे फहराता ।

सुरधनु से घन-कबरी मडित,
शरद कला मस्तक पर शोभित,
शस्य हरित, मलयानिल सुरभित,
आँचल लहराता ।

मन शिराओ मे, तप दीपित,
ऋषि मुनियो का वहता शोणित,
आत्म तेजमयि, पद नत सागर,
गुण गरिमा गाता ।

विश्वप्रेम, करुणा ममतामयि,
शक्ति पीठ जीवन क्षमतामयि,
मिट वाहिनी, दुष्ट दमन हित,
चण्डी विख्याता

अभये, अरि-उर भय से थर थर,
अजये, बलभृत कोटि बाहु-कर,
मगल ज्योति, अमगल हारिणि,
जग जननी माता ।

आक्रोश

अणु विनाश होने को भू पर
प्रकृति शक्तियाँ गाती जय,
मनुज-इतर धरती के प्राणी
हँसते,—मन मे भय विस्मय ।

सुनता मैं डमरु ध्वनि नभ मे,
मरन छेड़ता तूर्य स्वन,
अग्नि जीभ चटकार रही, लो,
नाच रही लहरें शत फन ।

कौन मरेगा ? युग भू की
क्षुद्रता, मनुज मन का तम-भ्रम,
त्वक् स्पर्शी सभ्यता मरेगी,
प्रलय सृजन ही का उपक्रम ।

घृणा-द्वेष, अवसाद मिटेंगे
दर्प, शक्तिमद, संघर्षण,
शेष आज क्या सभ्य जगत् मे ?—
घोर ह्रास कुंठा विघटन ।

यदि प्रबुद्ध होना भू मानव
मनुष्यत्व से अभिषेक्ति
वह अणु उद्‌जन अस्त्र बनाता
महानाश से अभिप्रेरित ?

यदि सस्कृत होता, असख्य क्या
पशु जीवन करते यापन ?
दारिद्र्यो के भूखे पजर
विवश बिताते दारुण क्षण ?

क्या कुरूप होना जन भू मुख ?
कदम सना मनुज प्रागण ?
लोक-रक्त के प्यासे करते
जन का तन मन धन शोषण ?

भौतिकता के लौह मच पर
युग दानव करता ताडव ?
क्राति नही यह प्रगति नही—
अब जीवित कहाँ रहा मानव !!

मैं सित प्रकृति पुरुष का प्रेमी
अमृत प्रेम के जो अवयव,
नव मानवता मे हो मूर्तित
युगल हृदय का रस वभव !

युध्यस्व विगतज्वर

आओ, उधर चल,
मानवता का सूर्योदय
जहा नही हो सका अभी !—
घन अधकार की सीमाओं पर,
अहकार के आरोहो पर !

मृत्यु खोह-सा मुह वाए,
नथुने फडाए,
तोप जहाँ गरजती
दैत्यो सी दहाड कर !
ज्योति पुत्र जूझते निडर
नेत्राध तमस से !

रक्त स्नान कर रही धरा,
नभ आग उगलता,—
आँधी बिजली कौंध रही
काला प्रकाश भर !
लोहे के निमम पद
रौंद रहे वरणा का
सौम्य वक्ष
ताडव प्रहार कर !

स्वप्न पलक
नव आशाऽकांक्षा की
कलियों को
कुचल रहे भू दानव प्रतिपग,
विस्फोटों की
क्रूर वृष्टि कर।

देख रही जो कलियाँ
स्मित अनिमेष दृगों से
नव मानवता का मुख
प्राण हरित गुंठन से।

मत रो, मृत युग सध्याओ,
मत रो, रण खेतो।
मत रो, खलियानो,
मत रो, जीवन की ममते।—

यदि अरुणोदय को
ढँक लेता—लौह कपाट
नरक का भय-नम।
यह भी निश्चय
ईश्वर ही की
वरद कृपा है।

यह नि मनाय
जगदीश्वर ही की
महिमा है।—

युद्ध कर रहा जो
प्रकाश-धनु ले निज कर में,
चित् पावक शर बरसा
तमचर युग दानव पर।—

यह सचमुच ही
ईश्वर की
निःसीम दया है।

कौन भूत ये
कौन प्रेत?
किन संस्कारों के
कटु कर्दम में पोषित
रेंग रहे युग-भू पर।

सर्पों से गुम्फित,
सहस्र स्वर
फूत्कार भर
छा लेते जो
मुख दिगन्त का।

महासमर की तैयारी यह,
एक और भी महासमर की,—
मनुष्यत्व का महासमर जो—

करवट बदल रहा इतिहास
क्षितिज के तम को
रक्त-स्नात कर।

सभी युद्ध संघर्ष
एक उस महासमर के
अंश मात्र हैं,—
मानवता का महासमर जो।

मनुष्यत्व को स्थापित करना
जन धरणी के
कदम किल्विष के प्रांगण पर।

अत लड़ो,
रो नहीं, अहते,
व्यथित व्यथे
विगतज्वर होकर
युद्ध करो—
निर्भय होकर
भव युद्ध करो,
नव भू जीवन,
नव जन मानव हित।

मनुष्यत्व के संग ही, निश्चय,
विश्व शांति
स्थापित हो सकती,
सृजन शान्ति
अर्जित हो सकती,
इस पृथ्वी पर।
तस्मात् युध्यस्व
भारत।

सूर्यास्त

कहते, सूरज अस्त हो गया ।
सूरज कभी न उदय-अस्त होता
प्रिय बच्चो,
उसका उदय अनन्त उदय है ।—
नये नये अरुणोदय लाता
जो भू-पथ पर—
नयी सुनहली किरण बखेर
नये क्षितिजों में ।

सूरज अस्त नही होता है,
महापुरुष भी कभी नहीं मरते
प्रिय बच्चो,
मृत्यु द्वार कर पार
अमर बन जाते हैं वे,
और, युगो तक जीवित रहते
जनगण मन मे ।

मृत्यु गुहा के अधकार का
द्वार पार कर
अगणित सूर्यों का यह कौन
सूर्य हँसता अब

भारत के आकाश दीप में—
युग जीवन का नव प्रभात ला
भू-आँगन पर !

उदित हुआ स्वातन्त्र्य सूर्य नव
स्वर्णिम किरणों का जगमग
टँग गया चँदोवा
नील मुक्ति पर !

नव जीवन आकांक्षा की
स्वर्गिक लपटों से
तेजोज्वल अभिषेक हो रहा
तरुण अमर भारत आत्मा का,
शोभित जो फिर
भू जन मन के सिंहासन पर !

अग्नि बीज बो रहा तिग्म
नव युग का सूरज—
ज्वाल पत्र फिर नए प्ररोह
उगें जन भू पर,
मानवता के स्वर्ण शस्य से
हँसें दिशाएँ !

नया ऐतिहासिक अरुणोदय है
यह बच्चो,
घूम रहा वह अमृत सूर्य
अविराम धुरी पर

नव प्रकाश के घट उंडेलता—
परिक्रमा करती जन-धरणी
ज्योति स्नान हो!

ओ गीता गौतम गांधी की
भू के बच्चो,
नव प्रकाश की किरणों के
मणि-स्तवक सँजो कर
भेंट करो
इन गुलदस्तों को
तुम जन जन को—

कभी न मुरझाने के ये
फूलों के गुच्छे—
इनमें मन का कक्ष सँवारो!
आत्म त्याग की अमर मृत्यु से
डरो नहीं तुम,
जियो देश के हित मर मिटकर!

वह अमरत्व भरी तन की रज
बरस रही अब
चिद् अंबर से
धरा धूलि पर—
गिरि शिखरों, नद सरिताओं
सागर लहरों में,
खेल रही वह—

लोट रही
भू के खेतो मे,
नयी फसल बनने,
नर रत्नो की पीढी को
नया जन्म देने को !—

नव आशा उल्लास, नयी शोभा सपद् की
जीवन हरियाली मे,
अक्षय शौर्य वीर्य की
मरकत मजरियो म
फिर फिर मुसकाने को !

मृत्यु-अध भय की खोहो का
आलोकित कर
एक समूचे वम जागरित
लोक राष्ट्र की
आत्मा का रस सूर्य
सास्कृतिक स्वर्णोदय बन
उदित हो रहा
अस्त कर तमस !
मृत्यु सिन्धु को तिर
मानवता का प्रकाश नव
उतर रहा
जन-भू जीवन के
मगल-तट पर !

उसके मस्तक को छू
हिमगिरि ऊँचा लगता,
उसकी पद रज धो
सागर जल पावन बनता,
उसकी बाह
निखिल दिशाओं को समेटती—
उसका मानस
विश्व मनस बन
नव जीवन में मुखरित होता !

जन्म मृत्यु झीने हैं,
अविनश्वर आत्मा का
मित स्फुलिंग बुझता रहता
फिर फिर जल उठने !

आकाशों की ऊँचाई में
अंतरिक्ष के विस्तारों में
मनुज हृदय की
गहराइयाँ उडेल
निरन्तर
शान्ति मूर्त वह
भू को स्वर्णिम पंखों की
छाया में लिपटा
नव जीवन संदेश दे रहा
निखिल विश्व को !

ताल ठोकता रण दानव
युग शृंग पर खड़ा—
भौतिक युग का पशु
लोहे के पंजे फैला
बिजली की टांगों पर दौड़
दहाड़ रहा है,
हिंसा-लोहित मुखड़े में
कटु अट्टहास भर—
अणु बम का मोदक दबोच
वाइ मुट्ठी में।

सावधान, आनेवाली पीढ़ी के बच्चो,
सावधान, भारत के युवको,
राष्ट्रशक्ति के जीवन स्तम्भो,
आज तुम्हारे ही कंधों पर
लेटा है वह अमृत पुरुष
द्यावापृथ्वी तक—
ध्यान-मग्न गौतम समाधि में।

योग्य बनो तुम,
वहन कर सको साहस से
दायित्व देश का
नए राष्ट्र का,
नए विश्व
नव मनुष्यत्व का।

सम्भ्रात स्मृति

अनुपस्थिति मे भी
  अनुभव करता जनगण मन
    एक उपस्थिति अब भी
      अपने बाहर-भीतर !—
    शात, सौम्य,
        चिर मौन, अगोचर !

कोई ज्यो
  नीरव रहस्यमय इगित करके
  पथ निर्देशन करता हो
    जन का—अदृश्य रह !
एक हाथ उठ
    लिखता हो ज्योतिमय अक्षर
  जीवन की
    अनबूझ समस्याएँ सुलझाने,—
वृद्ध काल तरतरु की
        गोपन रेखाएँ पढ !

    कना बीता एक वर्ष, अह,
        दारुण सुदर !

भूमि कप सा
दौड रहा रोमाच हृदय मे
जिसे स्मरण कर ।

समाधिस्थ बैठा युग
ज्वालामुखी शिखर पर ।
दुर्निवार कुछ रुका हुआ
प्रतिपल के पीछे—
पद-चापो की आहट सुन
बढने को आतुर ।

उन्नत सिर अब भी हिमाद्रि,
पद धोता सागर,—
घिरा शत्रुदल से
बल सचय करता भारत,
काटो की झाडी मे खिल
हँसमुख गुलाब सा,—
खोस गए जिसको स्मृति मे
आदर्श बना तुम—
शोभा के शाश्वत वसत से
हृदय मोहने ।

पुन ग्रीष्म आया,
लौटा सताप हरा हो ।
लोट रहे अधड भू रज पर
अध बवडर
ढँकते फिर नभ का मुख,
मारुत-अश्वो पर चढ ।

किंतु, धूलि के पर्वत को
निर्भीक लाँघ कर
एक शिखर आकृति जगती
मन के नयनों में,—

धरा धूलि में मिला
तुम्हारे प्राणों का बल
जैसे, फिर साकार हो उठा हो
कण कण में !

गंगा लहरों से प्रतिक्षण
सित अंगुलि उठ कर
संचालन करती हो अब भी
भू जन का पथ,
हे जनगण मन के
अधिनायक !

घोर ह्रास विघटन के
भय संशय के युग में
अनाचार की बाढ़ रोकने
अंधकार का पाट चीरकर
ज्योति-तीर दिखलाती
निर्भय—लोक यान को,

निज अक्षय आत्मा की
आभा से दिङ् मंडित,
सतत उपस्थित
मनोजगत् में,
तुम्हें नमन
करता नत जन मन,
प्रणत,
शत नमन !

हेनरी के प्रति

मिद्ध वीलियम फॉक्नर जैसे कलाकार ने
जिसकी आकृति चुनी, तूलिका के जादू से
जन मन पर अंकित करने, निज स्वप्न कक्ष मे,—
कौन भाग्यशाली हेनरी वह ? कोई विश्रुत
भूपति, कोई सत, महात्मा, शूरवीर या
विश्व विदित कवि अथवा जन प्रिय जन-अधिनायक ?—
विस्मय मूढ रहा अतर, अनिमेष दृगो से
चित्र देखकर भाव स्तब्ध हेनरी का अद्भुत !

सहसा मन ने कहा, नही, यह अश्रुत हेनरी
इन महानताओ से कही अधिक महान है !
मुग्ध कल्पना की आँखो के सम्मुख तत्क्षण
एक नया ही क्षितिज खुल गया मानवता का—
साधारणता जहाँ असाधारण लगती थी !
गत जीवन इतिहास मच की क्षुद्र यवनिका
अपने आप सिमट कर अन्तर्धान हो गई !
और, सहस्रो हेनरी, वन फूलो मे उग कर,
तारो मे खिल झिलमिल, हँसने लगे भीड मे !

ज्या समुद्र की बूदो का अस्तित्व न होना
अपना, या व्यक्तित्व ही निजी,—वे सब केवल

सागर कहलाती, तुम भी महिमा गरिमा से
वचित, अपनेपन ही मे ओझल, अनजाने,
जगती के अस्तित्व के लिए अति महत्वमय
उपादान हो, हेनरी, इसमे मुझे न सशय ।

सरिता का थोडा ही सा जल फल फूलो के
मूल सीचता, या पथिको की प्यास बुझाता,
शेष अकूल अथाह प्रवाह अनत काल के
छोर-हीन पुलिनो मे बह कर मुक्त निरतर
सरिता को सरिता अविराम बनाए रहता ।—
तुम भी अपनी राशि-राशि साधारणता से
सृष्टि चक्र का गतिक्रम जीवित रखते अविरत ।

हे रहस्यमय, किस अजान कुल गोत्र वश मे
जनमे तुम ? इतिहास न जिसका भेद बताता,
या दर्शन ही मूल्य न जिसका आक सका है ।
कौन वस्तु तुम ? कौन सत्य ? जग की समष्टि को
जो नित जीवन-गौरव देते मूक, अनादृत ।
धन्य भाग वह जननी, जिसकी पुण्य गोद ने
जन्म दिया तुमको, आकुल हो अक लगाया,
कितनी महती आशा, चिर अभिलाषा तुम पर
केन्द्रित कर वह, लोरी गा गाकर सुख तन्मय,
नव जीवन पलने मे रही झुलाती तुमको ।
भले नहीं जग आक सका हो मूल्य तुम्हारा,
किन्तु, हृदय की स्नेह-कसौटी मे स्वर्णांकित
मूल्य तुम्हारा सर्वोपरि था मा के मन मे ।

घास-पात, वन वृक्षों के सँग बढ़ कर तुम नित
भू-अंचल को जीवन-मांसल रहे बनाते,
जग के दुख से द्रवित, मौन करुणा-ममता के
ध्रुव प्रतीक-से, तुम निश्छल मानव आत्मा के
प्रतिनिधि बन अज्ञात, अपरिचित, तुच्छ उपेक्षित,
जाने अपनी किस निगूढ़ सत्ता से, उर की
जीव-सुलभ समव्यथा शक्ति से जन-जीवन को
करते रह प्रभावित सूक्ष्म अदृश्य रूप से !
विश्व सभ्यता के विकास को जीवित रखने
उसके रथ चक्रों से मर्दित हो प्रसन्न मन !

शिक्षित संस्कृत सभ्य जनों से कहीं श्रेष्ठ तुम,
जिसके उर को दया क्षमा ममता का स्पंदन
प्रेरित करता रहता, गूढ़ नियम संचालित,
जिसका मन न विपाक्त विश्व-वादों मे खंडित,
आत्म त्याग ही ध्येय सहज जिसके जीवन का !
परवश, कातर, अति नगण्य,—निज प्राण शक्ति से
जगत-सिंधु को रखते तुम जीवन-आंदोलित,
हे नरी, आस्था के अदृश्य दृढ़ सूत्र मे बँधे
तुम निश्चय निज दुर्बलता मे भी अजेय हो !

नष्ट भले हो जाय विश्व-सभ्यता मनुज के
किसी पाप से—किंतु अमर, अक्षय पावन तुम
दग्ध धरा से हरी दूब से उग फिर कोमल,
शील नम्र, नत शिर, ईश्वर की अमृत सृष्टि को
जीवन का उपहार नवल दोगे स्मिति-स्वर्णिम,
नव प्रभात की दिव्य प्रतीक्षा मे रत अपलक !

ध्वस शक्तियाँ काय कर रही जिस युग-भू पर
जहाँ ह्रास-विघटन का तम छाया दिग् भ्रामक,
उसमे तुम अपनी सहृदय साधारणता से
विश्व शाति के, लोक प्रीति के सौम्य दूत-से
आश्वासन देते जग को अज्ञात रूप से।
नही जानता, नव जीवन रचना को उत्सुक
हिंस्र धरा कब सहज बन सकेगी मनुजोचित।
प्रिय हेनरी, निज मौन उपस्थिति से तुम अविचल
जग को रहने योग्य बनाते हो नि सशय।

कौन तुम्हारे लिए बना सकता प्रिय स्मारक?
स्मारक हो तुम स्वय महाजीवनी शक्ति के,
मानव की क्षमता के, प्रभु की सित ममता के,
लघु से लघु, अति महत् से महत्—अवचनीय तुम।

नयी आस्था

डार्विन के थे मित्र
एक पादरी महोदय !—
चिंतित रहते जो उसके
आत्मिक मंगल हित !

और सोचते,
कैसे पश्चात्ताप रहित
प्रभु करुणा वंचित
नास्तिक आत्मा को
मरने पर शान्ति मिलेगी—
पापों के स्वीकरण बिना !

वे प्राय आकर
डार्विन को उपदेश दिया करते,
समझाते,—सखे, चार्ल्स,
मुझको महान् दुख,
तुम प्रसिद्ध विद्वान्
गुण अन्वेषक होकर
ईश्वर के प्रति विमुख,
धर्म आस्था से विरहित !!

कैसे होगा पापो से उद्धार
आत्म कल्याण तुम्हारा ?

डार्विन बात टाल्ते रहते,
हँसकर कहते,—
पोप महोदय,
मुझको नहीं धर्म पर आस्था,
सच है,—
पर वैज्ञानिक आस्था
मुझमें स्थित जीवनी-शक्ति प्रति—
सब शक्तिमय जो
असंख्य जीवों का पर्वत,—

धरा स्वर्ग के दिव्य स्वप्न सी
जो विकास पथ पर प्रतिदिन
मेरे मन की आखो के सम्मुख ।

पोप लौट पडते निराश हो !
डार्विन की अटपटी
अधार्मिक बातें सुनकर ।

और, एक दिन
जब प्रात वदना शेष कर
दैनिक पत्र उलटने देखा—

छपा प्रथम ही पृष्ठ पर मिला
समाचार प्रिय डार्विन के
देहावसान का !

दया द्रवित हो उठा तुरत
पितृ हृदय पोप का,—
शोकपूर्ण वह समाचार पढ !
वे व्याकुल हो
झुके प्रार्थना करने नत सिर
प्रेतात्मा की शांति के लिए !

दिन भर
सहृदय पोप चित्त मे रह ममव्यथित !
पुन साँझ को प्रणत प्रार्थना कर
डार्विन की आत्मशांति हित,
भारी मन ले
लेट वे सूनी शय्या पर
बार बार करवट बदलते !

अर्ध रात्रि के बाद नींद म
उन्हे स्वप्न जो आया—उसमे
हृदय नेत्र खुल गए पोप के !

देखा,
सुहृद चार्ल्स के मगल से प्रेरित व
उनकी आत्मा की रक्षा हित
नरक द्वार मे भी प्रयाण करने को उद्यत—

निकट रेल स्टेशन पर जाकर
टिकट ले रहे स्वय विकट सातवें नरक का !—

और, टिकट विक्रेता
देख रहा विस्मय से
माय धम गुरु वृद्ध पोप को
लेते टिकट नरक का दारुण !

वे चुपचाप
बिना कुछ मन का भेद बताए
बैठ गए शापित गाडी मे—
जोकि पापियो, अभिशप्तो को
महानरक पथ पर धकेलती !

प्रथम नरक का स्टेशन आया,—
चीख रहे थे जन वे दुष्कृत
दडित होकर,—
दारुण चीत्कारो से
कान फट जाते थे !

नरक दूसरा आया—
लोह के पहिया से
पिसते रुद्ध निममता मे
आहत पापी जन,
नदियाँ बहती निकल रक्त की !

नरक तीसरा—
तप्त शलाकाओ से
छेदे जाते थे तन
भूख प्यास के मारे
दारुण दुरित-ताप मे
तडप रहे थे दुष्ट पातकी ।

धार्मिक कट्टरता की कटुता
मूर्तिमान थी नरक रूप धर ।

इस प्रकार,
रोमाचक दृश्यो से आतकित
पहुँच सके जब पोप छठे दयनीय नरक मे—
वे अधमरे हो चुके थे तब
नारकीय भीषणता से
मर्दित मूर्छित हो ।

गधक के पर्वत जलते थे
छठे नरक मे—
घोर घृणित दुर्गंध वायुओ मे थी फैली ।
सडे मास के अबारो से
गन्दित पीप की नदियाँ बहती
मासन सी ही गीली पीली ।

काले बरसाप के
मोटे चमडे-से बादल
छाए थे—

बिजली के पैने दाँत किटकिटाते
गिद्धों-से झपट रहे थे
जो दुष्कृत्यों के जीवन मृत खल प्रेतों पर !

किसी तरह
इस त्रस्त भयकरता से स्तभित
गाडी आगे बढी
सातवें अध नरक को !

सोच रहे थे पोप चित्त मे
वहाँ पहुँचने से पहले ही प्राण पखेरू
उड जाएँगे स्वग लोक को, निश्चय !
हाय, मित्र डार्विन की
आत्मा भी तो अब तक
नष्ट हो चुकी होगी
अधकार मे सन, विघटित हो !
व्यथ मोह मे पडकर मैंने
नारकीय दृश्यों का
दारुण दुख झेला !

किन्तु ट्रेन अब ज्यों ज्यों
लोह पटरियों पर चल
आगे बढती गई—
नरक का दृश्य स्वग म लगा बदलने !
चकित स्तब्ध हो मन मे
पोप विचारने लगे !—

कही मुकुल्यो से वहु मेरे
दया द्रवित हो
प्रभु ने मोड न दिया यान हो
देव मार्ग को !
और, स्वग मे पहुँच रहा हूँ
मैं सदेह अब !
धन्य, परम पातकहारी
श्री प्रभु की करुणा !

इसी समय वे पहुँच गए
सातवें नरक मे !
विस्मय से अभिभूत
उतर गाडी से तत्क्षण
पोप देखने लगे मुग्ध दृग
नरक लोक की श्री सुपमा, जीवन गरिमा को !

नदन वन का दृश्य
दिखाई दिया सामने !
सुमनो की स्वर्गिय सौरभ उड
नासापुट मे घुस मन को मोहित करती थी !
स्थान स्थान पर
स्थापित थी डार्विन की प्रतिमा !

पूछा अति आश्चय चकित
करुणाद्र पोप ने—
'कौन स्थान यह ? स्वग लोक क्या ?'

वह जैविक ही नही
विश्व मन की आध्यात्मिक
पूण प्रगति का भी द्योतक है !

क्षुद्र नरक ही तो प्रारूप
महान् स्वग का !—
जो विकास पथ पर अब अविरत
भू जीवन मे !

नरक अचेतन अश धरा का—
उठो, सगठित करो शवो को,
वे मृत नही, भावना-मृत हैं !
उन्हें कर्म चेतना दो नयी
प्रगति मूल्य दो,
अधकार का करो
ज्योति मे नव रूपातर !
मानव ही तो प्रतिनिधि
भू पथ पर ईश्वर का !

मधु, देखते जैसा तुम अब,
धीरे,
अतर के प्रकाश से सचालित हो,
वज्ञानिक श्रम को दे
सृजन दिशा विकास की,
यह निश्चेतन नरक
नए चैतन्य स्वग मे
सित परिणत हो सका—
मुक्त धार्मिक पापो से !

इधर पोप को
मित्र चार्ल्स की बातें सुनकर
नही हो रहा था विश्वास
श्रवण नयनो पर !—

स्वप्न जगत् मे चौंक
सत्य के नव प्रभात मे
सहसा उनकी आँख खुल गई !

पुरुषोत्तम राम

पुरुषोत्तम राम

राम, आप क्या केवल तुलसी ही के प्रभु हैं,—
रामायण या विनयपत्रिका तक ही सीमित ?
सच है, जनगण सेवक तुलसी, और आप
जन मन अधिनायक, स्वामी, सखा, सहायक सबके !
ऐसा शब्दों का शिल्पी, तत्वों का शोधक,
भारतीयता का पोषक, जन मन उद्‌बोधक,
रस असि साधक, लोक काव्य का कुशल विधायक,
राम नाम सूर्योद्‌घोषक, द्रष्टा, स्रष्टा कवि
अन्य नहीं दीखता बृहद् हिन्दी वाङ्‌मय में !

चार शती तक जिसने पराधीन धरती के
जन मन को दी भाव दृष्टि, नव-जीवन पद्धति,
आत्मबोध, सस्कृत मर्यादा, कर्म प्रेरणा,
दुग दारिद्रय, अविद्या, भय के खल पाटो से
पीडित, मर्दित, खडित जन को, भगुर जग में,
दी अजेय आस्था ईश्वर पर—राम नाम पर !

मर्यादा पुरुषोत्तम, करुणा सिन्धु राम जी,
परम, पतित जन पावन,—जिनका नाम मात्र ही
स्वर्ग-मुक्ति सोपान अखड, राम से बढ कर !
'उल्टा नाम जपत जगु जाना', कहते तुलसी
'बाल्मीकि भे ब्रह्म समाना !'—परम मन्त्र बल !

मध्ययुगो की पृष्ठभूमि मे तुम्हे चीन्हकर
जन मन सिंहासन पर वे कर गए प्रतिष्ठित
भक्ति विनय, श्रद्धा आस्था, अनुराग त्याग से,—
प्रभु पद पद्मो पर हो पूण निछावर, निश्छल
तन्मयता से । किन्तु, साथ ही, जन जीवन को
जकड गए यदि रूढि रीति, जड परपरा के
लौह नियति शृंखल मे वे, तो करते भी क्या ?

दुर्निवार सीमाएँ थी गत भू स्थितियो की,
काल हो गया था स्तभित स्थिर, उनके युग मे,
बिखरे दिशा-विभव का सचय ही सभव था ।
उनसा तन्मय भक्त और क्या होगा कोई ?
रोम रोम हँस राम राम रटता था जिनका ।
कृतघ्नता होगी, ऐसे जन मगल कामी
कवि को हार्दिक श्रद्धा नही समर्पित करना ।

कैसी भक्ति रही वह । जन मन प्रभु चरणा पर
प्रणत, गिडगिडाता शतियो तक रहा निरतर ।—
प्रभु न हुए, विजयी सामती भूपति कोई
घिरा चाटुकारो से जय जयकार मनाता ।

कवे, सूत्र मानस मे छोड गए अनजान
आप, भक्ति आवेश द्रवित हो,—पापा के घट
नाम मात्र से पावन बन, भू जीवन पथ पर
बँध न सके व्यापक सामाजिक सदाचरण मे,—
आत्ममुक्ति हित राम नाम रटते जिह्वा पर ।
दुरुपयोग ही हुआ दया का दयासिन्धु की,
मुक्त न हो वह सत्य-सिन्धु की सत्य-दृष्टि मे ।

रामचरितमानस से अधिक चाहिए जन को
रामचरित की जीवन भू अब, आत्मा का ही
आगन ऊर्ध्वमुखी जप-तप से बने न पावन,
भू-जीवन के स्तर पर भी सगठित हो सके
समदिक् आध्यात्मिकता, सामूहिक मगल हित—
मिटे क्षुद्र दारिद्रय हृदय मन तन जीवन का।
माया मिथ्या रह न जग, जीवन-ईश्वर के
इद्रिय आत्मिक, व्यक्ति विश्व रूपो मे कृत्रिम
रहे विरोध न, सुलभ अखड सत्य हो जन को
पा समग्र चिद् दृष्टि जगत् जीवन विधान मे।

रामायण का पाठ और काला क्रय विक्रय?
जन घातक अघ कर्म, आत्म-मगल की आशा?
सामूहिक सद्सत् चेतना अभाव व्यक्ति मे?
कैसे सभव हुआ?—छिन्न कर दी हत आत्मा
जीवन से, मन से जग से,—इद्रिय-प्राणो के
वैभव के स्तर छील निखिल मानव-ईश्वर से।

भू जीवन निर्माण प्रेरणा मिली न जन को,
स्वर्ग मुक्ति की रिक्त खोज मे, पाप-भीत मन
बना पारलौकिक, धर्मों के जड विधान मे
बलि पशु सा बँध, आत्म पलायन कर जीवन से
जग से, जग जीवन के रस मासल ईश्वर से।।

गाधी की प्रेरणा हृदय-गत सत्य-बोध से
निगत हुई—धरा मगल रत राम राज्य की।
मध्ययुगी आध्यात्मिकता का व्यक्ति केतु रथ
ऊर्ध्वचरण उठ, रहा अधर मे रुका, प्राण-हय
प्रगति न कर पाए बहिरतर मगल-पथ पर।

आत्म दरिद्र, चरित्रहीन क्या होती ऐसा
सोने की भारत-भू—,जो आध्यात्मिकता की
जननी रही जगत् की—यदि वह सत्य बोध से
स्खलित पतित, फँसती न मध्य युग के कदम मे,
जीवन के ईश्वर से विमुख—अतीत कूप के
तम मे मज्जित, दृष्टि शून्य आस्था से मर्दित !

आदर देता मन सर्वाधिक तुलसी ही को
सच्चे अर्थो मे जन कवि जो,—मध्य युगो का
जन मानस सगठित कर गए, मोह शोक हर,
विविध मतो का जन-भू-मन केंद्रित कर तुममे !
किन्तु, मुझे तुलसी के राम न भाए उतने,
भरत भक्ति का उदाहरण भी नही सुहाया,—
सीता के पीछे न चित्त ही वन वन भटका
खग मृग, गुल्म लता तरु सम्मुख अश्रु बहाता !

लक्ष्मण अच्छे लगे, वीर विनयी हनुमत् भी
तप पौरुषमय प्राणशक्ति के मूर्त्त पवत !—
यह मेरी ही भाव दृष्टि सीमा हो !—यद्यपि
'जाकी रही भावना जैसी'—अध-सत्य भर !

किन्तु, राम, यह सत्य, मुझे तुम रामायण से
नही मिले, तुलसी मानस मे रम न सका मन,
बाल्मीकि, अध्यात्म अधिक कुछ भाए उर को !

तुम तो स्वत अमृत निर्झर-से मरकत स्वर्णिम
जाने किस चैतन्य शिखर से उतरे भीतर—
स्वर्गिक सौरभ-से समीर पखो पर वाहित
प्राणो मे बस गए, शुभ्र हीरक प्रकाश-से !—

जब ग्रहप-स्पदित उर आकस्मिक अनुभव से
स्तब्ध हो उठा, आत्म-स्मृति रहित,—तुम अतर मे
बोले, 'मैं हूँ! निर्भय हो! छोडो सब चिन्ता!'
औ' शिख से नख तक सित चिन्मय भाव-देह धर
क्षण भर हो स्मित प्रकट, समा फिर गए हृदय म!

मेरे मन का वर्षों का चिन्तन का पर्वत
जिससे मैं उन्निद्र रोग से पीडित था तब,
पलक मारते, जाने कहाँ विलीन हो गया!—
क्या सूक्ष्म आलोक सिन्धु मे डूब गया सब!
अवचनीय क्षण! कभी लौट आता फिर सहसा
युग-घाता मे जब विमूढ हो उठता अतर!

तुम अजेय सकल्प शक्ति, मित पौरुष प्रतिमा,
वाह्य प्रतीक ससार धनु जिनके, दीप्त शाति-स्मित,
सौम्य तजभृत, हरित कातिमणि-से श्री मडित,
उदय हुए थे रजत हृदय मे! चार दशक अब
बीत चुके सन् छासठ मे उस दिव्य भाव को!
अमृत-पूर मे ज्योति स्नान वह था चेतस का!

'मैं मानव का सहचर हूँ! अतस्थ हृदय म
व्याप्त सभी के, निज प्रियजन से अविच्छिन्न नित!'
बोले थे तुम! प्रीति मुग्ध मन कह न सका था
तब कुछ अब मैं कहता रहता तुमसे, 'स्वीकृत
सत्य मुझे, पर मुझको उसके योग्य बनाओ!'
निज लघुता के विकल बाझ से जब अनजाने

दूर, सामने छानी की मरकत घाटी मे
रजत तलैया चमका करती हँस दर्पण सी !

कौसानी मे मुझे साधु सगति भी मिलती—
सत समागम होता रहता तपोभूमि पर !
ऊर्ध्व हिमालय सन्निधि की पावन छाया मे
नैसर्गिक श्री सुदरता मे पले हृदय मन
विस्मित रहते, देख योग की ध्यान मूर्ति को,
नव किशोर मन की अवोधता से अतिरजित !
क्या जाने क्या कहते मुझसे पक्षी गाकर,
क्या कहती फूलो की भाषा, मौन हिम शिखर,—
मैं न समझ पाता अतर की भाव-व्यथा को !

अल्मोडे मे आत्मबोध कुछ जागा मन मे,
द्वाभा की किरणें फूटी हो दृष्टि क्षितिज मे !
वहाँ माध्यमिक शिक्षा को पा शुष्क अनुवर,
मैंने अपने को, अपने ही मे निष्ठा रख,
शिक्षित करने का कटकमय पथ अपनाया !
शनै , न जाने कितने जन्मो की आकुलता
छदो की लय मे बँध कुछ आश्वस्त हो सकी !
मनन, अध्ययन, चिन्तन,—कैसे वप गए वे !

'हार' क्या ही नहीं, चित्त का मानचित्र भी !
एक चील ज्यो मेरे सिर पर आ बैठी थी
तीव्र चपेटो मे फिर फिर सशक्त डैनो की
सुप्त बोध जो मेरे मन का रही जगाती
नयी प्रेरणाओ के तडित् पख फडकाकर
बाल कल्पना को उडान भरना सिखलाती !

मैं खराद पर चढ़कर अंत संघर्षों के
उदयन कवि किशोर बन निकला षोडशान में।

अल्मोड़े में कुछ विशेष स्मरणीय नहीं था,
कवि बनकर पूरा संतोष न था अंतर को।
भारतीय अध्यात्म-जागरण का युग था वह,
रामकृष्ण सी, रामतीर्थ औ' दयानंद सी
सित आत्माएँ भारत में अवतरित हुई थीं,
पौराणिक जड़िमा से मुक्त धरा-मन करने,—
आत्म-बोध के सूक्ष्म-लक्ष्य में मन की आँखें
रहस चमत्कृत रहतीं, खोई चिदाकाश में।
एक गूढ़ अज्ञात पिपासा जग मन-मृग को
भटकाती, दिखला सुदूर स्वप्नों की सरिता,
जग के मरुपथ की तृष्णा का ताप मिटाने।

वैसे मैं सम्पन्न घराने का बालक था,
घर से भी सम्पन्न अधिक था हृदय पिता का,—
कमी न थी कुछ मुझे, राज-प्रासाद तुल्य ही
पितृगृह—स्नेह, सुरुचि, सुख, संपद्, शान्तिपूर्ण था।
किन्तु मुझे वैभव के लिए न तनिक मोह था,
कहीं न जाने खोया सा रहता अबूझ मन,—
जगन्निष्ठ मनुजों से झेंप, पिछड़, असंग रह।
समय-समय पर एक नया ही चेतन मन पर
उतर, बदल देता पिछली जीवन-परिभाषा,
नयी रजत आशा का उर में क्षितिज खोल कर—
पिछला मन बासी पड़ स्वयं विलय हो जाता।

अब कह सकता, मैं सब से ही तुम्हें अजाने
खोजा करता, आकुल-अंतर बाहर-भीतर !
'वीणा' में स्वर सँजो हृदय के, बीच-बीच में,
स्वप्नों से गूँथता प्रकृति छवि वेणी निःस्वर—
मात्र वही थी सुलभ मुझे प्रेयसी रूप में !

कितनी ही गोपन अनुभूति हृदय को होती
सब-कुछ कहने में संकोच मुझे होता अब,—
संभव, एक अदृश्य सुनहली भाव-श्रेणि थी
जिस पर मैं चढ़ता अजान कर पकड़ किसी का,—
एक बार तुम आ, द्रुत अंतर्धान हो गए,
वर्तमान में कर अतीत-आक्रांत चित्त स्थिर,
बिना शब्द ही बता—जिसे त्रेता-द्वापर में
खोजा करते, वर्तमान में भी हूँ वह-मैं !
छाया सा सारा जग पीछे चला गया द्रुत,
मैं सम्मुख हो गया, पीठ पर गुह्य बोझ ले !

काशी और प्रयाग—तीर्थ स्थल यद्यपि दोनों—
मैंने संस्कृति केन्द्र रूप में इनको जाना—
दोनों ही मेरे शिक्षक भी रहे असंशय !
पर प्रयाग, जो संस्कृतियों का जीवित संगम,
वहाँ दूसरा जन्म लिया मेरी आत्मा ने
अंतःसलिला से अभिषेचित कर द्विज मन को !

यौवन का स्वर्णिम तोरण था खुला, किन्तु मैं
भीतर नहीं घुसा, बाहर ही रहा सोचता—
क्या जीवन, क्या जगत ? कौन मैं, क्या चिर सुख-दुख ?

क्या मिथ्या औ' सत्य ? कसौटी क्या दोनो की ?
क्या सचमुच ईश्वर है ? है तो कैसा है वह ?
उमड़, अनगिनत प्रश्न, टूट कर टिड्डी दल-से
विस्मित करते, चाट शस्य फल चकित बुद्धि के !
उदय हुए थे जब तुम सहसा हृदय शिखर पर
मन का पुजीभूत कुहासा छिन्न भिन्न कर !

सस्कृत वाड्मय कूलहीन रत्नाकर सा जो
उसमे तिरना सीख यथाकिंचित् काशी मे,
अधिक उच्च शिक्षा अर्जित करने जब पहुँचा
मैं प्रयाग मे,—ग्रह नक्षत्र रहे होगे शुभ !
विद्यापथ की शिक्षा मे रुचि लेता था मन,
मैं अग्रेजी कवियो के कल्पना लोक मे
विचरण कर एकाग्र, शिल्प रुचि, कला दृष्टि के
ललित विभव से नव मुकुलित कर सृजन प्रेरणा,
सूक्ष्म भाव, सौन्दर्य-बोध मे अवगाहन कर
अपनी काव्य-गिरा का युग-सस्कार कर सका !
प्रथम नयी भावाभिव्यक्ति के शोभा-'पल्लव'
फूटे तब मेरे स्वर्णिम कल्पना क्षितिज मे !
किन्तु विजय यह रही कवि-यश प्रार्थी मन की,
हृदय नही चरितार्थ कर सका अपने सपने,—
एक असभव आकाक्षा से मथित प्रतिक्षण !

जैसा सबको विदित तिलाजलि दे दी मैने
विद्यापथ को, असहयोग मे योगदान दे !
बहिर्मुक्त जान पर भी आत्मा की स्वर्णिम
रहस अभीप्सा रज्जु मे बँधा—बदी था मन !
सत्य ज्योति प्रति भावाकुल उर अनुभव करता

यदि मैं ऊपर उठकर अबर मे टकराऊँ
वह प्रकाश का स्रोत मुखर कर देगा फट कर,
या धरती को यदि निज पग तले दबाऊँ
तो वह सिधु-गहनता मे रस-मज्जित कर द्रुत
मन को तन्मय कर देगी निःसीम शाति मे।

विद्यालय से कही अधिक भाया था मुझको
वातावरण नगर का—स्वप्नो मे रोमाचित,
एक रुपहली शाति विचरती मुक्त वायु मे,
स्वर्ण-नील गोलार्ध कक्ष हो उसी शाति का।

जन्मभूमि का सा सौदर्य न मिलता यद्यपि
यहाँ प्रकृति मुख पर, ऋतुओ की भाव-भगि भी
वैसी मोहक न थी,—न तरु लतिका अधरो पर
दीर्घ काल तक नवल प्रवालो की रगस्मित
छाया रुकी सुहाती,—नव वसत दो दिन मे
ग्रीष्म-पक्व हो, दिक् शोभा विरहित हो जाता।
प्रखर निदाघ, पहाडी हसग्रीव हिम ऋतु से
कही असह्य कष्टप्रद लगता,—यहाँ कहाँ वह
रोमाचित हिम फाहो का सौदर्य बरसता ?
एक रात मे, दूध फेन मे धुल भू के अँग,
तूल धवल, माखन श्री मासल—लज्जित करते
स्वर्ग लोक की सुषमा का,—हिम की परियाँ आ
हम बच्चो के साथ स्वय ऋतु क्रीडा करती।

किन्तु एक शारद प्रभाव उस नगरभूमि का
मन मे उन्मय हुआ धीरे कुछ ही वर्षो मे।—

एक सौम्य चाँदनी भावना की चुपके से
स्वप्निल उर में लिपट गई—चंदन सौरभ सी
अंत शोभा के मरंद सूत्रों से गुंफित !
समा गया सन्ताप मौन हर्षित रोओं में,
गंगा की धारा में धुल मन की जिज्ञासा
बन निगूढ़ अनुराग, लगी बढ़ने समुच्छवसित,
कूलहीन सागर को करने आत्मसमर्पण !

कितनी ज्योत्स्ना स्मित रात पलकों पर बीती,
मावस का गहरा अँधियाला उर में छाया,—
तर्कों, वादों, संघर्षों, कटु आरोपों के,
क्रूर आत्म विश्लेषण के घने पंजों में
नुच खुच, आहत हो निर्मम तम-कुंठित चेतस
वज्र शिला बन, पर्वत सा जम गया हृदय पर—
रस तुषार खो गई चेतना बौद्धिक मरु में !

निभृत कक्ष में बैठा मैं दिन को मथित मन
तंद्राहीन दृगों में खोज रहा था किसको ?
सोच रहा था 'सुख दुःखे (तु) समे कृत्वा ' पर,—
कैसे हो सकते सुख दुख सम ? कौन भाव वह,
कौन चेतना, जो सुख दुख से परे, आत्म स्थित !
मुग्ध स्मरण, मन तीक्ष्ण शूल की तप्त नोक बन
मर्म छेदने लगा, वेदना दुःसह थी वह !
संशय-तम को चीर, जानने को हो विह्वल
कौन तत्व वह, कौन पुरुष या कौन मन स्थिति,
जो सुखदुख, या हानि लाभ, जय अजय से परे !
(मैं था तब श्री म्योर रोड में, साथ बहिन के !)

जैसे मारी हो छलाँग जग मेरे मन ने,
(या तुम मन का धुध चीर कर बाहर निकले ?)
पल के पल मे त्रिला गया दृढ मथन पवत—
तिमिर छँट गया, प्रश्न पट गया, फद कट गया,
उर का उत्तेजित स्पदन भी शात हो गया !
तन्मय अतर मैं—क्या हुआ, नही वह सकता !
जन-भू की मागल्य-शक्ति तब उठकर ऊपर
मुझे खीच लाई धरती पर सित विस्मृति से !
आत्म बोध जब जगा, वह चुका हूँ पहिले ही
उदय हुए तुम हृदय-शिखर पर नव आस्था से !

उसके बाद, न जाने कितने सकट पवत
मन पर टूटे, सघर्षों पर सघर्षों के
काले बादल छाए—भौतिक, भाविक, आत्मिक !
समुच्छ्वसित ही रहा भावना का सागर मन !—
लगी चेतना अधिक ठोस जड वस्तु जगत से,
जो अब छाया सा दीखा दिक् पट पर चित्रित !

एक वष के भीतर ही जीवन की आर्थिक
नीव अचानक खिसक गई ! राजा से बनकर
रक—विभव की पृष्ठभूमि से छिन्न मूल मन
मुरझा, मरने लगा, भाग्य की खर झझा से
बृहत् शून्य मे गिर,—यथार्थ के तिक्त दश सह !

नए हाथ पावा से पार किया तब मैंने
उस सूनेपन के समुद्र को, ज्योति तीर था !
मन ने वर्षों तक फैले जीवन-सकत पर
बना मिटा स्वप्नों के बालू घरौंदे अगणित,

आँक भावनाओं के अस्फुट चरण-चिह्न नव,
संचित किया मनोवैभव मित, सूक्ष्म दृष्टि पा !
कौन बना नव कर पद चेतन, नयी दृष्टि तव ?

वृद्ध पिता का स्वर्गवास भी तभी हुआ था,
मैं जिस वट की आंगी छाया में रहता, वह
सहसा अन्तर्धान हो गया—मेरे जीवन के,
किशोर मन के स्वप्नों को धूलिसात् कर !
जगत् रिक्त नि:सार, चित्त हो उठा हतप्रभ !
अंधकार पर्याप्त नहीं पर्याय हृदय की
दारुण स्थिति का, रोम रोम करता था रोदन !

बोले थे तुम, 'क्या करते हो ? मृत्यु शून्य का
मुख पहचानो ! मानव आत्मा पर मृत दुख की
अँधियाली छाया मत पड़ने दो—तुम मेरे
अमृत पुत्र हो !

'नित्य सत्य यह मानव आत्मा
मेरे मुख का सित दर्पण,—मैं जीवन प्रतिनिधि !
जिजीविषा से युक्त बनो ! बोलो, बाधा के,
रोग व्याधि, सुखदुख के सागर लाँघ, अभय हो
जीऊँगा मैं, जीऊँगा,—आनन्द स्पर्श पा
आत्मा के आलोक, विश्व की सृजन व्यथा का,—
मातृ-प्रीति का स्वप्न,—सत्य यह सृष्टि अलौकिक !

आँसू झर झर बहे दृगों से, अधर तटों पर
मौन हँसी का उमड़ा तन्मय, अमृत घूँट पी !

मृत को अजलि देने हित बँध सके न कर पुट,
मृत्यु कही भी न थी,—अनन्त उपस्थिति सम्मुख,—
मात्र अखण्ड चेतना सागर श्वास तरगित !

क्रूर वय के क्षुधित उदर मे ग्रस्त परिजन—
भाई बहिने, चाचा चाची, फूफी, दादी—
समा गए मन के सब प्रिय जाने पहचाने,
एकाकी जीवन के सूने सिक्ता तट पर
बिखरा साँसो के क्षणभगुर स्वप्न घरौदे।
कहा हृदय ने चीर देह-सबधो का तम,
मानवता क्या न हो विराट् कुटुम्ब तुम्हारा ?
विश्व चेतना उतरी ज्योति अरूप विहग सी
उर मे तब नव युग स्वप्नो का नीड बसाने !

बीता यौवन का वसन्त वन के आँगन मे
निर्जन टीले पर—कपि, मृग, शृगालो के सँग,
आसपास था मनुज निवास न कही दूर तक !
कौन साथ था वन मे मेरे तुम्हे छोडकर ?
बहु-भार स्मित खोल मयूर नाचते नीचे
अमराई म, मन के नव कल्पना क्षितिज का !
ज्वाला सुलगाते झिंगुर वय-तप्त रुधिर मे !

तुम ऊषा बन प्रात तरुओ के घुटपुट मे
मुख दिखलाते,—कितना प्रिय लगता वह स्मित मुख !
उन्मेषित हो उठना वन-परिवेश देख तब

रूप तुम्हारा अकथनीय आभा में गुंठित !
निर्जन दोपहरें अलग ही बीता करतीं
स्वप्नों की मुग्ध स्मृति में—वन झिल्लों की झङ्कृत !

गैरिक से था कुशल पूछती आँगन में आ,
'ज्योत्स्ना' की जीजी, खग कुल मिल करता कीर्तन !
स्तब्ध रात्रि में, प्रायः खिड़की की चौखट पर
चिपका दिखता पाण्डु चन्द्रमुख,—और नहीं तो
तारा बन तुम मुझे न दृग से ओझल करते,—
गुह्य मर्मरित वन्य निशा के रक्षक मेरे !

आम्र मंजरी बन रोमांचित, कोकिल स्वर में
प्रणय वचन कह, मधु सुमनों के गात्र अरूप
सँजो कर अपना, सौरभ स्निग्ध मलय वेणी में
हृदय गूँथ कर—विजन गोपन मधुबेला में
तुम अभिसार किया करते थे भाव-मनोरम
स्वप्नों के पथ से, अदृश्य प्रेमिका, सखी बन !
मौन गहन एकान्त—शान्ति के स्मित पलों का
मेरे ऊपर फैला मृदु हिरण्य डिम्ब सा
सेता अहरह, स्नेह उष्णता लिये तुम्हारी—
नया जन्म दो मुक्त जीवन विराग का !

तुम्हें विस्मित, क्या करता था मैं निर्जन वन के
हरित गर्भ में, समाधिस्थ हो रूप-चेतना के
अवाक् अन्तस्तल के स्वर्णिम प्रकाश में !
नयी दृष्टि पा मन सिन्धु में गाजा करता

नव स्फुरणो, नव चैतन्यो की रत्नराशि स्मित
जहाँ कही तुम होते प्रकट नए रूपो मे
सग्रह करता उन सित स्वर्गिक उन्मेषो के
इद्रचाप रुचि अचि ज्वलित सौन्दय बोध को !
शनै चेतना बनी प्रमुख,—जागा स्मृति पट पर
निखिल बाल्य कैशोय कल्पना चित्रो म शात !

चन्द्र पक्ष ही नही, कृष्ण पाखो के दुगम
अधकार को भी मैं जिया, गहन वन मे खा,
भय सशय, दिग्भ्रम के दशन भाग विफले !
घूपछाँह गुजन वन तव गाती मन की स्थिति !
नया सूक्ष्म गुण उतर विश्व चेतना गभ मे
आता जब भी, तुरत विरोधी गुण भी भू पर
लेता जन्म,—जूझ अभिनव गुण मूत हो उठे !

जगज्जलधि मे जहाँ रत्न, मुक्ताफल, उज्वल
सीप शख है,—वहाँ ग्राह, तिमि, मकर नक्र भी
रहते दारुण, एक दप से स्फीत ग्राह ने
दैव कोप वश, ग्रस्त कर लिया विनत तुम्हारे
शिशु गजेन्द्र को, अपने तामस गर्वित पाश मे !
गज का आत हृदय जब भय सशय मर्दित था
गोपन इगित कर आश्वस्त किया था तुमने !
एक दशक भर रहा चित्त तम मे उद्वलित,
हुए गुह्य आघात और भी मर्मस्थल पर,
रक्षा करते रहे हृदय के भीतर से तुम !

बोले, 'भटक न जाओ तुम प्रकाश पथ पर ही
रत्नच्छाया में लिपट शोभा-प्रहर्ष की,
मुक्त कर दिया मैंने तुमको उभय पक्ष से !
ज्योति तमस, विद्याऽविद्या से मैं अतीत हूँ !'—
हँसता अंतर तीव्र व्यथा-दंशन सह-सहकर,
वर्षों मैं घूमता रहा जीवन का, मन का,
जग का गहरा तिमिर मनुज चेतन पर छाया !

आते एकाकी विषण्ण क्षण भी जीवन में—
सलज पूछता तुमसे तब—मैं युवा हुआ अब,
कैसे सहे असह्य पुष्प-शर रज-जीवी तन ?
तुम अंतरतम में थे अंतर्धान हो चुके,
मन के पार कहीं से मन में उठती वाणी,—
'काम ? मुझे अर्पित कर दो वह प्राण-शक्ति निधि,
सूक्ष्म भाव-सौन्दर्य-जगत्
जिसकी परिणति भर !
अपने को कामुक मत समझो दुखी न हो
वह सृजन कला की मित पावक, तन-दाह न कुत्सित !
शनैः प्रकृति गुण लय हो जाते सूक्ष्म प्रकृति में !'
भाव-देह ही में भोगा मैंने भू यौवन
वंचित जीवन रहा रूप मांसल स्पर्शों न !

हीरक दृष्टि मुझे दी तुमने, रूप-रंग की
छायाएँ रच हो जातीं जिनमें नित लौ में !
मेरे बाहर ग्राम्या का विस्तृत चित्र-पट था,
मूक दुःख-दारिद्र्य रोता रीढ़-हीन तन !

राग द्वेष, कटु घृणा उपेक्षा, क्रोध कलह के
धरा नरक पर नर-जीवन कंकाल विचरते,
भूख प्यास के जर्जर पंजर, घोर अविद्या
कर्दम में डूबे, पथराए मृत अतीत में,—
रूढ़ि रीतियों के खल प्रेत, श्वास संचालित!

भू जीवन की गहन समस्याओं पर अहरह
सोचा करता मन,—कैसे हो राष्ट्र-संगठन
मध्य युगों के शोषित जन का बहुमत प्रांगण!
आँखें भर आतीं सहसा भारत आत्मा के
मूर्तिमान मानस खँडहर का परिचय पाकर!
सूख गई थी भू-चेतना प्रतीर, तापहर,
अंत सलिला गंगा की धारा, केंचुल सी!
दूर दूर तक आँखों में, तन मन जीवन के
पंजर में निष्क्रिय विराग की रेती छाई
आहत करती चेतन को दारिद्र्य में अमित!
स्यात् तदनंतर इन गांधी की जागृति का
भाव स्फुरण हो, उन असंख्य बौने मनुजों से
एक विराट प्रबुद्ध अमर मनुजों का मानव
सबसे ऊपर उठकर छा अंतरिक्ष को,—
किमाकार जन भू के अंबार पर्वत का
लाद पीठ पर, चढ़ता नए विराम शिखर पर!
मन चिंतन गंभीर सोचता,—बहिसंगठन
अत्यावश्यक,—पर भीतर से भी मनुष्य का
रूपांतर होना अनिवार्य, बदलना उसको
गत इतिहास,—नए चैतन्य केंद्र पर स्थित हो!

स्वप्न-मूत होती दृग-सम्मुख मानव भावी,—
तुम हँसकर कहते—'पैगवर वनना है क्या ?'
मन उत्तर देता, 'पगवर ? उनके दिन
ल्द गए ! आज तो भू रचना रत विश्व चेतना
स्वत ममीहा, मित विकास क्रम से उन्मेषित !
जीवन द्रष्टा पैगवर प्रकाश वाहक भर
दीप्त कर्म-शिल्पी, सयुक्त कुशल कर पद ही
मानव भावी निर्माता, युग पगवर अब !
निहँस पूछते, 'तो कवि वनना तुम्हे इष्ट है ?'
कहता, 'कही मल्य का सुरभित होना पडता ?
कविता तो प्रिय देन तुम्हारी स्नेह दृष्टि की !
तुम जो भी चाहोग मुझमे, मैं वह हूँगा
मन अब कुछ भी नही चाहता तुम्ह छोड कर !'
मोटी बाते ही वतला सकता हूँ वाहर
अतर की गोपन गाथा मुह से न निकलती !'
तुम चुप रह कर मुझे छोड देते वहने का
विश्व चेतना सागर मे युग-बोध तरगित !

राग व्याधि सुख दु ख उपक्षा, घृणा व्यग्य भी
सभी भोगता मैं,—तुम साक्षी ही न अगोचर,
स्नेही भी वन, मुझे गहन भव आवर्तो मे
नित उबार कर नया कूल दिखलाते उगती
भाव-भूमि का ! निश्चय, सखे निमित्त मात्र मैं,
एसा नही कि योग्य वन सका हूँ कुछ भी—
प्रिय, प्रीति मुग्ध कर तुमने वनने दिया न मुझको !

नगरो मे भटका मन फिर युग निनाना वन
जीवन-वास्तवता, भौतिक यथाथ ने प्ररित,—

अग रग-भारत का भी वन, हुआ उपस्थित ।
घोर ह्रास विघटन छाया था निखिल देश मे,
कुछ अतीत गौरव स्मृति स्तभ अभी जीवित थे,
कला शिल्प सस्कृति की झाकी मिलती जिनसे ।—
भारत छोडो आन्दोलन अब अस्तप्राय सा
जन मन मे हिंसा विषाद फैलाता निष्क्रिय,
विश्व युद्ध था छिडा दूसरा,—बहिर्जगत के
उद्वेलन तुम उर मे गुफित करते अविरत ।
नयी मूल्य-केन्द्रिक सस्कृति का स्वप्न हृदय की
पलको मे तव जगा, पर न साकार हो सका ।

मन तुममे रहना, वह ग्राम नगर जीवन का
अश नही वन सका पूर्णत, तुमको खोकर,—
प्रणत तुम्हारे महत् प्रीति पात्रो के सम्मुख,
सतत तुम्हारी गुरु गरिमा से परिचित होने ।
जो भी साधक रहा तुम्हारा, उसका सचय
उतर हृदय मे आया स्वयमपि प्रथम दृष्टि मे,—
ऐसा ही माहेश्वर योग तुम्हारा होगा ।

देश विदेशो मे विचरा मन, विश्वात्मा का
परिचय पाने मानव आत्मा ही विश्वात्मा
निकली, सबके अतर मे स्थित एक भाव से ।
मनुज एक ही है सर्वत्र, न किंचित् सशय,
जग के सार-सत्य मे गढ तुमने मानव को,
किया स्वय को स्थापित उसमे, निखिल विश्व ही
जिसमे सहज समा सकता ।—तुम मित क्षमता हो
भू मानव की, विकसित होना जिसे तुम्हारी
भूय दिशा मे ।

आज धरा देशो-राष्ट्रो मे
लौह-भक्त, कुछ द्रवित हो रही, विश्व रूप मे
ढलने को, गल यत्र सभ्यता के अनुभव के
प्रखर ताप से! किन्तु विविध जीवन पद्धतियो,
मूल्य-दृष्टियो, तर्को वादो मे खडित वह
अभी भविष्योमुखी नही बन सकी,—प्राण मन
जड अतीत की अध शृखलाओ मे बदी,
गत इतिहास-पक मे लिपटे रेंग रह जन
अधोमुखी स्थापित स्वार्थो के घृणित नरक मे
भिन्न दिशाओ मे, बल शिविरो मे विभक्त बहु,
मनुज-विश्व एकता, लोक ममता के स्वर्णिम
सिद्धातो के प्रति विरक्त, लघु भेदो मे रत!

महा ह्रास सकट छाया जन-भू जीवन मे,
मरणोमुख मानव-अतीत पद स्खलित हो रहा!
कल जो भौतिकता विकास गति की द्योतक थी
आज प्रगति अवरोधक वह—दुर्जय काल गति!
भौतिक वैज्ञानिक विकास के सँग मानव की
आध्यात्मिक उन्नति न हो सकी!

अतर्जीवन
मरुस्थल सा अत शुष्क,—आध-जल मे मृग वचित!
आणव रण भय म कुठित मन अध-अनास्था
सशय मे हत जर्जर, कोरी बौद्धिकता के
भात भँवर म घूम, खोज पाता न दिशा-पथ!
(वर्तमान पश्चिम का दर्शन करुण निदर्शन!)
श्रद्धा निष्ठा शून्य-बुद्धि रचना-सुख वचित,

जन समुद्र उद्वेलित, दैन्य निराशा पीडित
मज्जित करने को आतुर भू-मर्यादा तट !
हृदय हीन निदय नर महाप्लवन हित तत्पर !!

नही जानता, मातृ प्रकृति का शोषण कर
विज्ञान कहाँ तक जन-भू मगल का सवधन
कर पाएगा   भौतिक वैभव के सँग ही
आध्यात्मिक सपद् का अजन मानव जीवन मे
स्वर्ण सतुलन ला सकता   भू मानवता को
बना सभ्य के सँग ही सस्कृत भी पृथ्वी पर !

जब हताश मन खोज न पाया समाधान कुछ,
बोले तुम, 'यह बाह्य चित्र भर काल-खड का !
मुझको देखो, मैं हूँ भीतर का मनुष्य,—मैं
भीतर का वास्तविक विश्व, बाहर के जग को
मेरी प्रतिकृति मे ढलना है ! नाशहीन मैं !
मैं ही केवल सार-सत्य बाहर भीतर का—
विविध वस्तुओ, स्थितियो, घटनाओ, गतियो के
जग का सत्य समग्र !—न हो किंचित् निराश तुम
क्षुद्र बाह्य गणना मे ! मुझमे रहकर मुझम
गणना सभव है क्या ?   मैं कैसे हो सकता
विगत युगो का राम-कृष्ण ? यदि काल-मुकुर मे
मुझे देखना तो, मैं नव युग राम-मनुज हूँ !

क्या विज्ञान नही मेरी ही एक शक्ति है ?
मेरी इच्छा बिना मनुज यत्रानिक होता ?
आदि काल मे किन्तु अभी तक (हाँ, आगे भी   )
क्या हो रहा जगत् मे, ज्ञात नहीं, क्या मुझको ?

मैं ही अष्टमुखी जड भौतिक जग का ढाचा
बदल रहा हूँ वाष्प श्वास से, लौह पदा से,
तडित् रक्त गति से,—मिट्टी के मत्य पात्र म
चैतन्याऽमृत भर नव, अकित कर भू-नर की
प्रतिमा मे आध्यात्मिक भुवनो की श्री सुषमा,
मुक्त प्रकाश, प्रहृष,—शाति कामी मानवना
धरा स्वग रचना मे निरत रहे जिसमे नित !

जन्म ले रहा नव युग मेरी धरा योनि की
प्रसव वेदना यह, आलोडित विश्व-सिंधु जल !
ह्रास-विकास चरण अब गति के,—जन भारत का
खँडहर मेरा ही निवास मैं ही पतझर क
वन का नव जीवन वसत मेरी पद रज मे
निर्मित भू इतिहास, शिल्प सस्कृति की गरिमा !

मैं ही था गाधी,—भारत का सविधान भी,
मैं ही शासन, सेना, रक्षा दल दश म !'
सप्रति, भू विकास की स्थिति स मैं ही अविरत
जूझ रहा अपनी अजेय सकल्प शक्ति म !
काल रूप निज दिखा चुका तुमको गीता म !
मानव का सहयोग मुझे प्रिय क्रम विकास हित !
धरा स्वग यह पर ये मुझको करा न खडित
मैं ही ईश्वर नर, जो तुमसे बात रहा हूँ !
महानाश भी बाध्यहीन मरे स्पर्शों से
पलक मारते जी उट्ठेगा,—सृजन क्षण म !

भारत मेरे अतमन का रणक्षेत्र ह !
उसको नवयुग मानवता का बना निदशन
उतरूँगा मैं शुभ्र हिरण्य भुवन ना जग म

प्राचीनो के लिए तत्व की सिद्धि अलम् थी,
जो अरूप उपलब्धि मात्र सित आत्म-समाधित !
सूक्ष्म अमूर्त बोध प्रेरित, मन की द्वाभा मे
वे रहस्यमय स्पर्श प्राप्त कर चिन्मय वपु का
मुझे खोजते रहे, खिचे कृश ध्यान सूत्र से !

चिद् विद्युत् का अन्वेषण कर वे फिर उसको
जन-भू जीवन रचना हित कर सके न योजित !
धर्म रहा चिद्बोध केन्द्र—जन मन दीपो को
दीप्त न कर वह, उन्ह पाप परलोक भीत कर
भटका भर धिक् सका ऊर्ध्वमुख अधकार मे,
दिव को भू से, ईश्वर को जग से वियुक्त कर !—
समदिग्-जीवन हीन उन्नयन रिक्त पलायन !

महत् श्रेय नव युग को (जो परिसयोजन युग !)
पूर्ण रूप से वह मुझको वरने को आतुर
तन मन प्राण, वस्तु स्तर पर भी,—मनुज जगत् को
मेरी सत्ता के प्रकाश मे ढाल, उसे मेरा स्वरूप दे !
आज प्रकृति की निखिल शक्तियाँ उसको अर्पित,
आँक सके मृण्मुख मे वह मेरी चिद्गरिमा,
भू जीवन को चढा चाक पर मनुज-प्रेम के !—
विरज अरूप बोध से ही सतुष्ट न होकर !

सृजन प्रेरणा मैं, सजना मुझे सबसे प्रिय,
अभिव्यक्ति देता मैं उसमे निज विभूति को !
मैं वसत की आत्मा, जिसके अमृत स्पर्श से
सृष्टि-बीज अकुरित पल्लवित होता प्रतिपल !

मैं शोभा आनंद प्रेम की मंगल आत्मा,—
पतझर मेरी क्षण समुपस्थिति, क्षण नियमों से
परिचालित !—

पीले पत्ते पक, पकने ही में
सार्थकता अनुभव करते, सम्यक सजीवन-
शक्ति खींचने में अक्षम, मैं जीवन तरु को
आत्मा के यौवन से नव मधु मुकुलित करता !
मृतक मृत्यु से (जो अभाव का रिक्त शून्य भर !)
जीवित मेरे भाव-शून्य से पापित होते !
क्या होगा इस पथराए जग के अतीत का ?
महानाश कर रहा काय, रीता हो भव-वन,
मेरी अमृत उपस्थिति उसको नव जीवन दे,—
नए रूप रंगों के क्षितिजों में विकसित कर
नए भाव-सौंदर्य विभव किरणों से मंडित !

हिमकिरीटिनी की यह कैसी आज दुर्दशा !
हुए दो दशक अब स्वाधीन बने जन-भू को,—
भारी उद्योगों के सँग गृह उद्योगों की,
कृषि-फल की कर घोर उपेक्षा नेताओं ने
कृषि-प्रधान जन प्राण धरा की भारी क्षति की !
शिक्षा का गत ढाँचा, शासन की भाषा भी
बाह्यारोपित रही,—मानसिक दास्य भाव जो !
प्रांत-मोह में बँट, राष्ट्र प्रति दृग मूँदे जन !

क्या कारण कटु अनाचार, रिश्वतखोरी का,
काले क्रय विक्रय का, दूषित विकृत खाद्य का ?
(अंतिम पाप कहीं संभव क्या किसी देश में !)

शतियो के नैतिक शोषण का फल यह निश्चय ।
स्वार्थ लिप्त, मोहान्ध, देशद्रोही बौद्धिक अब
सत्वो प्रति जाग्रत्, कर्तव्यो के प्रति निष्क्रिय,—
जन साधारण भेडो से भयत्रस्त, अशिक्षित—
युग जीवन के प्रति अबोध, भू भार ढो रहे ।

जो कुछ नव उपलब्धि देश की,—बँट न सकी वह,
पहुँच न पाई जन तक, चोटी तक ऋण मे
दबकर भी भू देशो के, इने गिने धनपति ही
पीनोदर उससे,—जन-मृग प्यासे मरु-भू पर ।

राजाओ-से रहते मत्री क्षुधित धरा के,
उच्च पदस्थो के ऊँचे नभचुबी वेतन,
सुरा नालिया मे बहती सपद् नगरो की ।
मध्यवर्ग पिस रहा शासको के कर-पद बन,
शेष प्रजाजन अन्न वस्त्र गृह से भी वचित,
भाग्य भरोसे बैठे कोसा करते विधि को ।
आज घास की रोटी भी न सुलभ जनता को
अध नग्न तन, भग्न हृदय, जीवन ढोने को
विवश लोक मल-कृमि, दुर्गंध भरे घर आँगन ।।

दोष भले हो यह शासन का, अनावृष्टि या
नक्षत्रो का, (नियति कूप मडूक देश जन ।)
पर यह सबसे बडा दोष उस महा ह्रास का
युग युग मे जिससे शोषित-पीडित भू के जन,—
अर्थो मे माने राजा शासन भी जिनमे ।

मुट्ठी भर बौद्धिक मयूर के पंख लगाए,
शिक्षा त्वच, सभ्यता चम ओढे विदेश का
का-का-का कर काक-बुद्धि का परिचय देते,
निज भू स्थितियो प्रति अजान, भव-गति पारगत !

आत्मा की रोटी से युग युग से वंचित जन
अध रूढियो, मध्ययुगी आदर्शो मे रत,
झूठे जप तप व्रत, नहान के पक मे फँसे,
घुट्टी के सँग पी ढागी संता की वाणी—
(जीवन मिथ्या, जग असार, माया, मृग तृष्णा)
देह क्षुधा भी आज मिटाने मे निज अक्षम,
पशु भी जिसकी पूर्ति सुगमता से कर लेते !!

आत्मा की सच्ची रोटी यदि मिलती जन को
जीवन प्रति अनुराग, धरा श्रम के प्रति श्रद्धा—
सहजीवन देना चरित्र, सगठन आत्मबल,
सामूहिक सकल्प हृदय मे भरता पौरुष,
भू जीवन-सौन्दर्य हृदय शोणित मे गाता,
ईश्वर होना मूर्तिमान मानव गरिमा मे,
और न होते दैन्य ग्रस्त, अपदार्थ, पशु जन,
बहिरतर निधनता मे पीडित, पिशाच-से !—
ज्योति बीज आत्मा, जिसको भू मानवता की
श्री समग्रता मे होना ऐश्वय पल्लवित !

भौतिक रोटी भले न आत्मा का प्रकाश दे
(इस युग की सभ्यता निदर्शन जिसका जीवित !)
आत्मा की सच्ची रोटी देती वह क्षमता
क्षुधातृषा कर तृप्त लोग जिससे जीवन की,

सामाजिक सास्कृतिक स्वग श्रेणी रचना कर
अर्थ-काम सपन्न सकल होते धरती पर,—
मनुष्यत्व की भास्वत गरिमा से दिङ् मडित !
आत्मा की रोटी प्रतीक तन मन जीवन की—
अभय आज देता भारत भू के देशो को
युग के उद्वेलित समुद्र मे ज्योति-स्तम्भ बन !

किंतु, हमे क्या मिली धरोहर मध्य युगो से ?—
गोहत्या प्रतिरोध छिडा आदोलन भू पर,
धर्मों के ककाल जी उठे विगत युगो के
भारत के तापस समाज को बना अग्रणी !—
उदर निमित्त बहुकृत वेशा साधु अधिकतर
परपरागत जटा श्मश्रुधर, गुहा निवासी,
गुह्य शक्तियो के पूजीपति, ढोगी साधक,
शोषण करते जन का, मन को वशीभूत कर !
ईश्वर से वे दूर, दूर भव श्रेयस से भी,
जीर्ण सप्रदायो के पथराए जड पजर,
आत्म मुक्ति के मरुमृग, बाधक लोक मुक्ति के,—
बने खिलौने विफल, विरोधी दल के कर मे !

स्वार्थ, शक्ति, पद-तृष्णा प्रेरित राजनयिक दल
युग प्रबुद्ध नागरिक कहाते दप मूढ जो,
भूसी के मस्तिष्क, विगत पथो के नेता,
मृत अतीत चवण की करते अभी जुगाली !
स्नायु रुग्ण स्पर्श-पवित्रता के पीछे पागल
मध्ययुगी मानस, विरक्त, निष्क्रिय, विधि पीड़ित !

साधु रहे अब कहाँ साधु ? गैरिक ठठरी भर,
रिक्त निखिल अध्यात्म ज्योति से, अंधकूपवत् !
जीर्ण साधना पद्धतियों के ऋण भरे त्वच,
भाँग, चरस, गाजा पी रहते मदिर समाधित !
न्यस्त कर्म, वैराग्य ठूँठ, दायित्व विरत वे
क्लीव दीमकों के वल्मीक—चाटते जन मन !

कभी सत्य प्रेरणा मिली इनसे भूजन को ?
लोक-कार्य म हाथ बँटाया कभी इन्होंने ?
या स्वातन्त्र्य समर ही मे ये भाग ले सके ?
आज शंकराचार्यों को लेकर आए ये
अनशन का ले अस्त्र, अनुवर लक्ष्य-सिद्धि हित,
मृत गायों की हत्या को रोकने एक स्वर !
धर्म कार्य यह ? धिक्, ये उतने दूर धर्म से
जितना ईश्वर भी न दूर इन दिङ् मूढ़ों से !

नत मस्तक मन अब भी उनके सम्मुख, भू पर
भगवत् प्रतिनिधि, जन शुभचिन्तक जो योगीश्वर !

चमत्कारवादी जन का दिग भ्रांत देश यह,
जो कंचन-मृग-छली साधुओं प्रति आकर्षित,
फोड़े विद्याहीन देश की मनोविकृति के
विमुख जनों को करते जीवन से, अतीत के
मृत सदृश सुनाकर, कंचन घट म विष भर !
क्या कर सका समन्वय तांत्रिकों का गढ़ तिब्बत
जब पद मर्दित किया उसे उद्भ्रांत चीन ने ?

मत्र तत्र हो भले ऊर्ध्व सोपान चित्त के,
भू-जीवन ही ईश्वर का घर, भू-जीवन ही
ईश्वर का घर, मुझे न सशय,—उसे सगठित
निर्मित, सस्कृत करना होगा सब श्रेय हित !

मध्ययुगी भारत का कुठित उपचेतन मन
उमड रहा अब बाहर, जजर गो पजर-सा,
सीग शकराचार्यों के भी उग आए, लो !
रँभा रहे सब पूछ उठाकर—गोहत्या को
बद करो ! दारुण दुकाल से ग्रस्त सहस्रो
लाखो मनुज भले मर जाएँ, किंतु धम की
ठठरी गाएँ बची रहे ! हम भारत के जन
मा की ठठरी की पूजा को धम समझते !
पूछ उठा, फुकार छोड, ये गोमाता के
बछडे खोद रहे जीवन अनुशासन की जड,
पटक खुरो को भू पर, नथुने फुला क्रोध से !

इगित करता भारत का चतसिक विलोडन—
राजा नही रहे, न शकराचाय रहगे !
लदे महतो सामतो के दिन भारत मे !
लदे मठाधीशो, हठधर्मि मताधो के दिन !

जीण धम की केंचुल झाड, निखिल मगल हित,
आध्यात्मिकता नाग निकल गई नि सशय
अधी आस्था के गोपद बिल से बाहर हो !

मन के, आत्मा के स्तर पर साधक भारत ने
किये पवनाकार उच्च आदर्श प्रतिष्ठित,
जीवन स्तर पर लँगड़ाते जो भू-लुंठित हो !
जीवन की साधना चाहिए आज जनों को
जीवन के आदर्श महत् हों भू पर स्थापित,
जीवन-भू को त्याग, रिक्त गत आदर्शों को,
प्राणों से सींचना पलायन मात्र खोखला !—
व्यक्तिमुखी मन वरे विशद सामूहिक जीवन !

हम गोहत्या रोक रहे क्या ? यह चुनाव का
विज्ञापन क्या ? या हम जीती ही गायों को
खाने के अभ्यासी अब ? क्या नहीं दीखते
भारतीय गायों के पंजर ? मांस कहाँ है
उनके तन पर ? कौन खा गया ? क्या न उपेक्षा
गोपूजक की ? हाड़चाम की ठठरी ही क्या
भारत की जर्जर गोमाता ? लज्जा से सिर
झुक जाता ! खाने को आज नहीं चारा भी,
बेचारा गोधन !! मनुजों तक को अब दुर्लभ
घासपात की रोटी, कंद मूल कानन के !

क्या न दूध भी श्वेत रक्त ही अस्थि शेष इन
दोनों आकृतियों का, जो छूंछा सा रहती !
गोहत्या ही नहीं हमें गर्दभ हत्या भी
स्वीकृत नहीं अकारण,—यह आत्मा की हत्या है,
मध्ययुगी गल आवेगों के प्रेत जगाकर
जनगण का निज स्वार्थसिद्धि का लक्ष्य बनाना !

कहाँ रहा तब भारत-मन का गैरिक-पजर
साधुवग ? जब भारत माता अपने बधन
छिन्न-भिन्न करने को आतुर थी, सदियो की
लौह श्रृखला मे जकडी, लज्जानत मस्तक !
कभी किसी भी लोक यज्ञ मे प्राणाहुति दी
परजीवी, जग से विरक्त, भू-भार साधु ने ?
गोहत्या प्रतिरोध हेतु जो आज सामने
आया कर मे ले त्रिशूल ? यह मध्य युगो का
वन जीवी बबर, अपरूप खडा पिशाच सा !
ईश्वर इनके साथ नही—सशय न मुझे अब,
ये उपचेतन प्राण शक्तियो के साधक भर !

क्या ऐसे दुष्काल के समय, त्राहि-त्राहि जब
करती धरती, हाय, हाय करती सब जनता
लक्ष लक्ष ये उत्तेजित तापस-नागरजन
'चलो गाँव की ओर'—नही नारा दे सकते ?
भूखे प्यासे आत्मघात हित तत्पर जन के
क्या न सहायक बन सकते दुष्काल के समय,
उन्हे मानसिक भौतिक भोजन देने के हित—
जन-भू का बल एकत्रित कर सत्प्रयत्न से,
तरुणो के शोणित का भी पथ-निर्देशन कर ?
क्या न जूझ सकते शासन से—शीघ्र अन्न जल
पहुँचाने के हित अकाल पीडित गाँवो मे ?
निश्चय, यह कोरा चुनाव ही का नाटक है !—
गोवध के परदे मे जनहत्या का नाटक,
पर दु खात,—शक्ति लोक-सेवा से मिलती !

गोमाता का प्रेम न यह! उसका शोणित भी
पीकर यदि हम राज्य कर सकें, तो तत्पर हैं!

धिक् यह पद मद, शक्ति मोह! कांग्रेस नेता भी
मुक्त नहीं इससे,—कुत्तों-से लड़ने कुत्सित
भारत माता की हड्डी हित! आज राज्य भी
अगर उलट दे जनता, इतर विरोधी दल के
राजा इनसे अधिक श्रेष्ठ होंगे?—प्रश्नास्पद!
क्योंकि हमारे शोषित शोणित की यह नैतिक
जीर्ण व्याधि है!—
आत्मान सतत रक्षेत,—प्रसिद्ध उक्ति है,
जग प्रति विमुख, आत्म उन्मुख रहने ही में हित!!
अंधों में काने राजा की नीति इसलिए
हमें अनिच्छापूर्वक सहनी, अरे युग में!—
जिसे बदलने को कटिबद्ध हमें अब रहना!

बिना शांति, अनुशासन के इस मरघट भू पर
(जोकि साधना भूमि रही शव साधक युग की!)
कहीं नहीं कल्याण दीखता! गत नर-भक्षी
कापालिक दीक्षा अब भी जीवित शोणित में।
लोक क्रांति के लिए नहीं तैयार धरा जन,
लूटपाट से, अग्निकांड में, मारपीट में
क्रांति नहीं आ सकती,—बिना महान् लक्ष्य के!
रक्त विप्लवों से शिक्षित होते न कभी जन,
प्रतिक्रियात्मकता में प्रगति न सम्भव भू पर,
भले अराजकता के भय-सन्ताप भोग नर
शील भ्रष्ट, अनुशासन हीन, नष्ट हो जाएँ!

फिर भी, कोई हो भू शासक, वह समथ हो,
युग प्रबुद्ध हो, दूरदर्शिता से परिचित हो,
तोड सके वह मध्ययुगो की रीढ धरा की,
कृमियो-से रेंगें न धरा जन, ऊर्ध्व-मेरु हो,—
नवयुग आभा से चुबित हो गौरव मस्तक !
रूढि रीति से ग्रस्त, पाप सत्रस्त न हो मन,
देख सकें जन ईश्वर को चलता युग भू पर,
गाधी की आत्मा हो मुक्त,—धरा मे वदी !

कोई भी हो शासक,—उसको मध्ययुगो के
अस्थि-शेष भारत को युग-मासल करना है,
अध रूढियो मे पथराए मृत अतीत को
छिन्न मूल कर, नव जन जीवन की गरिमा से
मडित करना है भू-खँडहर ! युग युग के मृत
विश्वासो, कटु रागद्वेष के विष-दतो को
तोड, जाति वर्णों से, छुआछूत से जजर
जीण सप्रदायो को भू से झाड पोछकर
राष्ट्र चेतना मे दिद् मुकुलित करना जन मन !

जो भी हो शासक, शतियो के अनाचार को,
क्षुधातृषा, दारिद्रय अविद्या, दु स्व निशा को
उसे मिटाना,—पू किल न, दुर्गंधपूण, हत
धरा व्रणो पर लेप लगा नव मनुष्यत्व का !
लौह-पदो से उसे रौंदती मनोविकृतियाँ
रीति-नीति के नामो से जो पूजी जातीं,—
प्रजातत्र का अथ न यह, जन मुट्ट भिन्न हो
स्वाथ सिद्धि के लिए अराजकता फैलाएँ,
नष्ट भ्रष्ट कर कष्ट साध्य जन-भू की सपद् !

सत्-शासन का अर्थ न यह, जनता के सेवक
सम्राटों-से रह, उच्च वेतन भोगी बन !
निखिल देश की सुख-सुविधाओं को अधिकृत कर
राज्य करें जीवन-मृत हड्डी के ढाँचों पर !
घोर विषमता के पाटों से मर्दित जन की
चूर्ण पसलियों का संगीत सुनें बहरे बन !
मूर्तिमान दारिद्र्य दुःख की नरक धरा पर
क्या ऐसा ऐश्वर्य सुहाता सत् शासक को ?
अच्छा हो, जनश्रम प्रतीक पावन खादी के
वस्त्र छोड़ दें वे, जो गांधी के वल्कल थे !
शासकगण के काले कर्मों को खादी की
शुभ्र छटा भी ढँकने में असमर्थ आज है !

शिक्षा ने पथभ्रष्ट कर दिया नव युवकों को,
कुंठा का दिग्-अंधकार ही उनके सम्मुख !
क्या भविष्य है उनका ? थोथी शिक्षा के वे
बलि पशु बन कर, मनुष्यत्व भी आज खो रहे !
जो शिक्षा धरती की जीवन-वास्तवता से
सम्बन्धित ही न हो, न जन-भू की संस्कृति से,
जिसे प्राप्त कर युवक न अपना घर सँजो सकें
औ' न देश सेवा कर पाएँ—किसे लाभ
उस रिक्त ज्ञान से ? जो बाह्यारोपित अनुकृति भर !

निरंकुश होना स्वभाव में ही नव यौवन
आज उष्ण शोणित यदि उसका विद्रोही है
तो यह किसका दोष ? प्रकृति यह तरुण रक्त की !

बहकाते हो उनको राजनयिक पद-लोभी,
किन्तु निराशा कुठा का अथाह सागर जो
उनके हृदयो मे अदम्य उद्वेलित अनुक्षण
कैसे उसके शतफण दशन युवक भुला दें ?
शिक्षा पद्धति निश्चय हमे बदलनी होगी,
जिस शिक्षा से सुख-सुविधा दुह सकें दक्ष-कर,
उसे बना कृषि, प्रविधि, अर्थ, उद्योगपरक अब
हमे राष्ट्र रचना हित अगणित जन, कर-पद, मन
प्रस्तुत करने होंगे, नए रक्त से दीपित !

वृद्ध देश के प्रति अपने दायित्व-बोध से
प्रेरित मैं, उसको फिर नव यौवन देने को
उ सुक हूँ, नव भू-तरुणो के प्रति आश्वासित,—
वे ही भावी भू-रक्षक, सेवक, शासक भी !
वे विद्रोह करें अनीति से, पर अनुशासन
भग मत करें, राजनीति के कर-कदुक बन !
धन विद्रोह विधायक, ऋण विद्रोह विनाशक !
ऐसा शील तपित मन, विनय ग्रथित भू-यौवन
शायद ही हो और कही इस विपुल धरा पर !
उसे मात्र भौतिक निर्माण नही करना है,
महत् सास्कृतिक स्वर्ग बसाना बर्बर भू पर !—
यह महान् दायित्व उसे सौंपा है विधि ने !

धिक् उनको, जो सोचा करते भारत केवल
फ्रास, रूस, अमरीका सा हो भौतिक-वैभव
सैन्य शक्ति सम्पन्न राष्ट्र हो,—अलम् नही यह !

हृदय-हीन जग आज भटकता भौतिकता के
अन्धकार मे, मानव पशु से भी नृशम हो
दानव का पर्याय बन रहा अब दिन-प्रतिदिन !
(वियतनाम उस बर्बरता का एक निदर्शन !)
भू-मानस मन्दिर आध्यात्मिक ज्योति के बिना
जीवन घातक अन्धकार मे सना रहेगा !

नवयुग सन्धि ! बदलता करवट अब भू-जीवन,
नयी चेतना का युग लाना होगा भू पर
भारत जन को जूझ बाह्य-अन्तर के तम से,
नव मानव की सित आकृति गढ, नए मूल्य पर
केन्द्रित कर जगती का जीवन ! अपने इस
दायित्व भार को बिना निभाए, यदि वह केवल
भौतिक स्वर्ग सँजोए भू पर, तो वह निश्चय
कर्तव्यच्युत होगा ! अन्य धरा देशो की
प्राणिक स्पर्धा का बन लक्ष्य, महाविनाश ही
ढाएगा जग पर,—यह पद्धति द्वन्द्व-जगत् की !

ऐसी कोई धरा स्वर्ग कल्पना न सम्भव
बाहर से जो पूर्ण, खोखली हो भीतर से,
वचित अन्तर वैभव से, आत्मिक प्रकाश से !
समतल गति को आरोहण करना अब निश्चय—
नए हृदय का स्पन्दन तुम्ह न सुन पडता क्या ?—
जन्म ले रहा जो पकज सा भू-कर्दम से !
औंधे मुह गिर लेटा जो भौतिक भू-जीवन,
उसे जागना अन्त क्षितिजो का प्रकाश पी !
मानव ही को बनना नव-विकास का वाहक—
विश्व-समस्या का न अन्य घन-समाधान कृष्ट !

महत् कही सातत्य प्रगति से क्षिप्र क्रान्ति गति !
सक्षम शासन आज चाहिए भारत-भू को
मध्ययुगो के कान्ते घेरो को कुचले जो
पथ प्रशस्त कर नयी प्रेरणा का यौवन हित,
दिग-भू रचना मे जन-शक्ति करे सयोजित !

अत अतीत तमस से बाहर निकले भारत
खँडहर के पर उगें, उठे प्रासाद अलौकिक
मानव आत्मा के अक्षय स्वर्गिक वैभव का !
पावक का पथ रहा तप प्रिय जन भारत का,
सामूहिक लपटें उठ भस्म करें भू-कल्मष !

कुभकर्ण मे सोए आज हमारे शासक
सुख सपत्ति सुलभ सुविधाओ की शय्या पर
शक्तिमोह, पद मद की स्वप्न-भरी निद्रा मे
अनाचार सतापो की गहरी छाया म !

असतोष फैला दिग् व्यापक अखिल देश मे !
जन को उन्हे जगाना होगा तूर्य नाद कर—
शखघोष सित कर जन-भू के श्रेयस के हित
सृजन सगठित करनी होगी शक्ति धरा की,
जो सहार करे अघ का, निर्माण कर नव
जीवन-मगल शस्य-हरित युग-भू प्रागण का !

ऐसा दिखता नही विरोधी दल म भी नर
जो भारत जन-भू का बोहित पार लगाए !—
कल यह सम्भव हो यदि, मन स्वागत को तत्पर !

स्वार्थ तृषित दल, मत-भेदों में खोए नर
राज्य शक्ति कामी,—विजयी हो भू-शासन की
बागडोर यदि आज थाम लें, धरा मुष्टकट
तो क्या अधिक गहन अँधियाले गड्ढे में गिर
नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा ?—युग-युग के भूखे
नए लोक-प्रभु चूसेंगे जन-गों का शोणित
नए लोभ से, नए वेग में अमिट तृषा से ?
घोर अराजकता का मंच बनेगी जन-भू ?
अंधकार के दिग्व्यापी परदे के भीतर
स्वार्थ, लोभ, पद मोह रचेंगे नव जय भारत ?
शक्ति दर्प होगा दुखांत नाटक का नायक,
विवश-धरा दर्शक बन हाहाकार करेगी ?—
नहीं, नए शोणित को भी अवसर दें जनगण,
विविध दलों के युग-प्रबुद्ध नर राष्ट्रिय शासन
स्थापित करें धरा पर, जन-मंगल से प्रेरित !
वर्तमान स्थिति निखिल देश की दारुण-भीषण !!

राजनयिक ही नहीं, सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी
जीवन की गति विधि विघटित होती जाती अब,
मुक्त नहीं साहित्य जगत् भी ह्रास धुंध में !

महत् प्रयोजन सत्य खो गया हो वाणी का,
आज घुणाक्षर-सी अमूर्त मदृत शैली में
बिम्ब प्रतीक उभरते मग पग चिह्न चित्र-से
क्षण की करतल रेती में बन मिट नगण्य-से !

कथ्यहीन युग-कविता कोरी अलंकरण भर,
जिसमें गूढ़ अल्प वेदना करती रोदन
व्यक्ति अहंता की, युग स्थितियों से पद मर्दित !
मृगजल छाया शोभा का प्यासा युग-कवि मन !

राग द्वेष का तुच्छ मंच बन रही समीक्षा,
छुटभैयों के साथ खड़े कुछ चोटी के भी
शुक प्रातिभ विद्वान् बाल की खाल खींचते,
बाला ही की पकड़ सिद्धि अब चोटी की भी !
आत्मबोध के दिवालिये बुध, तीतर बनकर
चुगी जिन्होंने उगली विद्या,—बात-बात में
उद्धृत करते ब्रह्म वाक्य मृत, विदेशियों के !
कैसे हो सकता वह सत्य भला, हाइडेगर,
किर्कगाड, यास्पस, सार्त्र या रमल, वेल्स-से
द्रष्टा जिसके बारे में कह गए नहीं कुछ ?
रिक्त कारयनिक, हाँ, उड़ान हो सकती मन की !
कवि का कटु आलोचक के पंजे में फँसना
प्रतिभा के पृथु गज का दलदल में गिरना है,
जहाँ मात्र दलबंदी हो या तार्किक कीचड़ !
मौन सिद्ध आचार्य, हिचकते कहने में कुछ,
या समझौते की भाषा का आश्रय लेते
कहीं न कोई उनकी भी पगड़ी उछाल दे !

भावुकता की भाँग पिए हों देश युगों से—
हीन ग्रन्थि से पीड़ित तथाकथित कुछ बौद्धिक
आज रिक्त विद्रोह भावना में उद्वेलित,
आत्मतोष पाते विद्रोही उद्गारों की
एक-दूसरे के सम्मुख फुल्झड़ियाँ बरसा !

जन-भू रचना, महत् राष्ट्र निर्माण कार्य में
पूर्ण अपरिचित, कठपुतलों के सेनानी-से,
रीते दर्प प्रदर्शन से सन्ताप ग्रहण कर
बन अग्र नेता जो कुंठा-मूढ़ जनों के ।

विद्रोही हैं ये युग के, युग के विद्रोही,
जिन्हें न युग-जीवन निर्माण कभी करना है,
असंतुष्ट निज से, जग से, जग के स्रष्टा से
डँसते ये निज को, सबको अस्तित्व-दंश से
उसे मानकर धर्म मनोगत अन्धकार का ।
सूँघ गया है इन्हें साँप काली कुंठा का,
बीस गिरोहों में बँट सत्व-निष्ठ ये बौद्धिक
झाग-भरी फूत्कार छोड़ते युग मंचों से ।
ये प्रणम्य हैं, युग पावक से उठने वाले
ये कड़वे, घन धूम, राख, बुझती चिनगारी ।

दुर्विपाक या मनोविकृति की आँधी से हो
उच्च पदच्युत व्यक्ति घोर अवसरवादी बन
साहित्यिक नेता अब बने हुए बहुधन्धी,
बुद्धिजीवियों की कुंठाओं की सेना ले ।
कला क्षेत्र वाग् युद्ध क्षेत्र में बदल अकारण,
महिला की ले आड़, छोड़ते शर युगधन्वी
आचार्यों पर, खड़े शिखण्डी के हो पीछे ।
और प्रार्थना करते, हम जब छोड़ें विष शर
सीना ताने रहें आप,—तृण लक्ष्य न च्युत हो ।

दंतकथा से सम्भव परिचित होंगे पाठक—
एक बार चूहों की मजलिस में अनजाने
भटक गया बेचारा हाथी भोलेपन में ।

चिर अजेय, युग के कालिय फण पर अधिरोहित !
राजनीति ही मेरा युग का प्रमुख क्षेत्र है,
जिसको देना मुझे अभी सांस्कृतिक धरातल,
आध्यात्मिक किरणें बखेर जन-भू की रज में !

'ग्रन्थों के ईश्वर के पूजक अब भारत जन,
जीवित ईश्वर से संपर्क न उनका स्थापित !
सन्त तुम्हें जब कहते स्नेही सुहृद—प्रणत हो
तुम उनसे कहना, "भाई, मैं पत ही भला,—
जाने कितने विकृत खोखले आदर्शों की
सन्त धरोहर मध्ययुगी मन की प्रतीक है !'

देखा मैंने, कहीं नहीं थी जग की सत्ता,
मात्र तुम्हीं थे, अगणित काल बिन्दु भर थे सब
अंश तुम्हारे ! भूत तुम्हीं में परिणत होते
परिवर्तन भोगते, तरंगों से उठ गिर कर !

बोला मन, जीवन की करुणा से विगलित हो,
अब मुझको विश्वास, सखा हो तुम मनुष्य के,
कौन प्यार दे सकता इतना लघु मानव को !
सुख दुख, विजय पराजय के भीतर से तुम पथ
मुझे दिखाते रहे, झेल जीवन संघर्षण,
मैं क्या विवरण दूँ उसका, जो परम निजी है !
तुमको पाकर सुख दुख विजय पराजय भय भी
मुझको प्रिय अब,—मृत्यु-दंश चुम्बन सा सुखप्रद !

तुम मुझमें इतने लय, इतने घुले हृदय में,
अपने को मैं तुम्हें समझने लगता प्राय,
सखे, हृदय में शुभ्र-उपस्थिति से प्रेरित हो !

तुम हँस दते, बँधकर मुक्त बने रहते नित,
इतने शून्य-अह, आत्मस्थित, अ-मैं-विद्ध तुम।
ये इन्द्रिय, ये अवयव, निखिल प्रकृति की गति यति
हो भी किसकी सकती ?—मात्र तुम्हारो। इनके
सब व्यापार तुम्हारे फल भी तुम्ह समर्पित।

मेरा युग सन्देश नही कुछ भू जन के प्रति,
परम सत्य तुम प्रेम, जगत् जीवन के आश्रय,
और जगत् जीवन क आश्रित—क्योकि प्रेम तुम,
द्वन्द्वो मे भी द्वन्द्व-मुक्त, स्थित अनघ-विद्ध नित।
मनुज-प्रेम मे जन तुमको चरितार्थ कर सकें
भव-विकास क्रम मे, तुम जगन्निवास अगोचर।—
मित समाज-मानव मे विकसित क्षुद्र व्यक्ति हों!
आज तुम्हारी भावी महिमा से उन्मेषित
बौने लगत मुझे व्यक्त सब रूप तुम्हारे।

'तुम भी आवश्यक हो मेरे हित,' तुम बोले,
'प्रेम मुझे कहते तुम, क्या है प्रेम जानत ?
तुम जितने मेरे हो उससे कही अभिन्न
तुम्हारा हूँ मैं,—क्योकि प्रेम हूँ मैं यह मेरी
निखिल सृष्टि भी मात्र प्रेम ही का प्रतीक है।

प्रेमी जन तुम प्रेम से बँधे,—स्वय प्रेम मैं,
सत्र मे ही सयुक्त, साथ ही प्रेम मुक्त भी।
मैं ही हूँ सापक्ष जगत्, निरपक्ष सत्य भी,
मेरे जितन भी रूपा मे परिचित हो तुम
वे केवल प्ररूप मात्र मेरे अरूप के।

गाधी मुझको अधिक निकट लाया धरती के
निखिल लोक प्रेमी, श्रमजीवी मनुज-सत्य बन !

'मेरी महिमा को भावी मानव मे देखो
वर्तमान के मुखर शिखर पर आरोहण कर !
सम्भव, कण के भीतर कभी हिमालय से भी
मुझे विराट् देख पाओ तुम, सूक्ष्म दृष्टि पा,
सशय मत करना मुझ पर—मैं परिमाणो से
बाहर हूँ,—अव्यक्त व्यक्त सब भीतर मेरे !
ध्यान दृष्टि से देखो जड-चेतन विधान को,
चिद् विभूति भू-रज मेरे अति चेतन वपु की !'

मैंने पूछा, 'हृदय सखा, किस मधुर नाम से
प्राण पुकारे तुम्हे ?' मन्द हँसकर तुम बोले,
'राम नाम से मुझे जानती भारत जन भू,
तुम भी चाहो वही कहो—मैं नाम रूप से
परे, कृष्ण, ईसा, पैगम्बर, बुद्ध सभी हूँ !

परम, सदाशिव, परा शक्ति भी, परब्रह्म भी,
परमेश्वर, अगजग स्रष्टा भी !—अपर दृष्टि से
मैं ही हूँ अग जग, लघु तृण कृमि, अमित प्रम मे,
सृष्टि स्वग सोपान—जीव से देव श्रेणि तक !'

• • •

नवम्बर, १९६६]